पं० जयचंद्र विद्यालंकार

भाषा विभाग, पंजाब
पटियाला
१९५८

प्राक्कथन

साहित्य भाषा का प्राण है और साहित्यस्रष्टा भाषा के निर्माता हैं । अत: किसी भाषा को यथाविधि समुन्नत एवं विकसित करने के लिये साहित्यकारों को समुचित सम्मान प्रदान करना वांछनीय है, जिससे कि वे अपनी भाषाओं की अभिवृद्धि तथा समृद्धि में अधिक से अधिक योग दान कर सकें । अतएव राष्ट्र एवं राष्ट्रीय सरकार का यह एक परम अनिवार्य कर्त्तव्य बन जाता है कि वे अपने मूर्धन्य साहित्यस्रष्टाओं को यथारीति सम्मानित करे ।

भाषा विभाग, पंजाब के एकीकरण से पूर्व पैप्सू सरकार की ओर से पंजाब के प्रमुख हिन्दी तथा पंजाबी साहित्यकारों को सम्मान प्रदान करने की जो परम्परा प्रचलित की गई थी, उसके अनुरूप इस वर्ष पंजाब सरकार ने पंजाब के सुविख्यात हिन्दी-लेखक तथा सर्वमान्य इतिहास विशारद पं० जयचन्द्र विद्यालंकार को सम्मानित करने का निर्णय किया है । श्री विद्यालंकार ने भारतीय इतिहास तथा हिन्दी साहित्य को जो गवेषणा पूर्ण देन दी है हिन्दी संसार उससे सुतरां सुपरिचित है । उनके अभिनन्दन-स्वरूप समर्पित की जा रही यह पुस्तिका उनके साहित्यिक जीवन एवं कृतियों के सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय देने का एक प्रयास मात्र है ।

आशा की जाती है कि सहृदय पाठक गण इससे लाभान्वित होंगे ।

निदेशक
भाषा विभाग, पंजाब,
पटियाला ।

क्रम	पृष्ठ



पं० जयचन्द्र विद्यालंकार

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार
जीवन परिचय

पं० जयचन्द्र जी विद्यालंकार भारत के मूर्धन्य मनीषियों में से हैं। वीर-भूमि पंजाब के इस सपूत ने अपनी देशभक्ति और अपूर्व मेधा द्वारा जो विशिष्ट मान-सम्मान प्राप्त किया है वह प्रत्येक देश-वासी के लिये गौरव का विषय है। श्री जयचन्द्र जी एक ऐसे प्रकाश-स्तम्भ हैं जिनके आलोक में भारतीय क्रांतिकारियों ने अपना पथ-निर्देश पाया है और भारतीय इतिहास ने अपना नवीन किन्तु यथार्थ रूप प्रस्तुत किया है। फलतः राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जयचन्द्र जी की महत्ता का मुक्तकंठ से अभिनन्दन हुआ है। श्री जयचन्द्र जी एक ओर पंजाब में क्रांति-आन्दोलन के दीक्षा-गुरु माने गये हैं दूसरी ओर वे उस भारतीय मेधा के प्रतीक हैं जो भारत की सीमाओं से पार विदेशों में भी स्पृहणीय बनी है। आपकी इसी मेधा से प्रभावित होकर आपकी रचना 'इतिहास प्रवेश' की समीक्षा में महान् भाषा-विशेषज्ञ डॉ० सुनीति कुमार चैटर्जी ने लिखा था—

"And it is a history not for Indians but for the whole world to read." अर्थात् यह एक ऐसा इतिहास है जो न केवल भारतीयों के लिये अपितु सारी दुनिया के पढ़ने लायक है।

दूसरे शब्दों में कहा जाय तो श्री जयचन्द्र जी एक व्यक्ति न होकर अपने आप में एक ऐसी सशक्त और व्यापक संस्था हैं जिसका अतीत अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है और जिसका भविष्य भी परम उज्ज्वल है।

श्री जयचन्द्र जी का जन्म ५ दिसम्बर सन् १८९८ को पश्चिमी पंजाब के जिला लायलपुर के एक छोटे से गाँव 'डिजकोट' में हुआ था। तीन

बहिनें आपसे बड़ी थीं और तीन भाई आपसे छोटे। आपके पिता श्री कर्मचन्द जी नारंग अपने नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति माने जाते थे। वह एक सफल व्यापारी किन्तु ईमानदार व्यक्ति थे। उन दिनों पंजाब का बुद्धिवादी वर्ग आर्यसमाज की राष्ट्रीय चिन्तन-धारा और सुधारवादी मान्यताओं से बहुत प्रभावित था। प्रत्येक शिक्षित युवक आर्यसमाजी प्रगतिशीलता का अनुयायी हो चला था और ऐसे अनेक व्यक्ति थे जिन्होंने समाज की सुधारवादी धारणाओं के अनुरूप अपने सिद्धान्त और अमल में एकरूपता का प्रतिफलन निर्भीक रूप से किया। श्री कर्मचन्द जी भी ऐसे ही निर्भीक और सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे। आर्यसमाज से प्रभावित होकर उन्होंने सामाजिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाना ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना लिया था। जन्म-अनुसार जात-पांत व्यवस्था को वह देश और समाज के लिये अहितकारी समझते थे। उनका विश्वास था कि जन्म से सब समान होते हैं। अपनी इस मान्यता को अमली रूप देने के लिये कर्मचन्द जी ने अपने बच्चों के लालन-पालन के लिये नत्थू नाम के एक चमार को नौकर रखा। श्री जयचन्द्र जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि "माता. पिता, बड़ी बहिन के बाद बचपन में मुझ पर सबसे अधिक प्रभाव नत्थू का पड़ा।" बाद में यही नत्थू (नत्था सिंह) अमरीका गया और ग़दर पार्टी में शामिल होकर १९१४ में तोशामारू जहाज में भारत आया और नज़रबन्द हुआ। १९०५ में अपनी बड़ी लड़की पार्वती देवी का विवाह भी उन्होंने जात-पांत तोड़ कर ही किया। किसी सवर्ण व्यक्ति द्वारा इस प्रकार के दुस्साहस, तत्कालीन रूढ़िवादिता के लिये एक खासी अच्छी चुनौती थे। किन्तु श्री कर्मचन्द की सुधारवादी दृढ़ आस्था सदा अचल बनी रही। इस प्रकार के प्रगतिशील वातावरण में जयचन्द्र जी ने अपने शैशव के आठ वर्ष बिताए। पिता की इच्छा बेटे को आर्य संस्कृति के निर्भीक उपासक, देशसेवक के रूप में देखने की थी। फलतः १९०६ में पिता ने उन्हें शिक्षा के लिये गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार) में भेज दिया।

गुरुकुल में जयचन्द्र जी को नगरों के सामान्य वातावरण से भिन्न एक विशेष प्रकार का वायुमण्डल मिला जिसके फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व में उन महत्वपूर्ण विशेषताओं का बीजारोपण हुआ जो आगे चल कर अपने विकसित फलरूप में प्रकट हुईं। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल की स्थापना ही इस उद्देश्य से की थी कि क्लर्क उत्पन्न करने वाली दूषित आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से मुक्त वातावरण में राष्ट्रीय और नैतिक दृष्टि से उन्नत स्नातकों का निर्माण किया जाय। गुरुकुल में सरकारी यूनिवर्सिटियों और स्कूलों के लिये तैयार की गई पुस्तकें नहीं पढ़ाई जाती थीं बल्कि वहाँ ऐसी नई पुस्तकें लिखी और पढ़ाई जाती थीं जो कि विदेशी सरकार के प्रभाव और प्रचार से मुक्त होती थीं। उन दिनों जब लोग स्वतन्त्रता और स्वाधीनता जैसे शब्दों का प्रयोग भी खुले तौर पर न कर पाते थे तब गुरुकुल कांगड़ी में देश की पराधीनता और उससे मुक्ति के उपायों पर निश्शंक भाव से चर्चा होती थी। फलतः अपनी छोटी आयु में ही जयचन्द्र जी ने समझ लिया था कि परतन्त्र भारत के नागरिक का सबसे पहला कर्त्तव्य क्या है और उसकी पूर्त्ति कैसे हो सकती है।

१९१३ में महात्मा गान्धी ने दक्षिणी अफरीका में सत्याग्रह का शंख-नाद किया तो सभी देशभक्त भारतीय अपन प्रवासी भारतीय भाइयों की सहायता के लिये कुछ न कुछ करने को अग्रसर हुए। गुरुकुल के विद्यार्थी जयचन्द्र का हृदय भी इस आंदोलन में यथासामर्थ्य सहायता देने के लिये व्यग्र हो उठा। उन दिनों वह गुरुकुल की विद्यार्थी-सभा के मन्त्री थे। उन्होंने अपने साथियों से विचार-विमर्श किया और फिर सभी विद्यार्थियों ने गंगा पर बन रहे बाँध पर मिट्टी-पत्थर ढोने का काम किया। मजदूरी के रूप में जो रकम प्राप्त हुई उसे दक्षिणी अफ़रीका के सत्याग्रह आंदोलन की सहायता के रूप में भेज दिया गया।

१९१८ में गढ़वाल में अकाल पड़ा तो जयचन्द्र जी अपने साथियों का

दल बना कर वहाँ भी पहुँचे और गढ़वाल के पीड़ित भाइयों की यथासम्भव सहायता की ।

गुरुकुल के हिन्दी-निष्ठ वातावरण में हिंदी-सेवा की भावना का उत्पन्न हो जाना तो स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त भारतीय जन-गण को दिमाग़ी गुलामी से मुक्त करने की प्रेरणा भी जयचन्द्र जी को गुरुकुल में स्वामी श्रद्धानन्द जी से ही प्राप्त हुई । स्वामी जी का विश्वास था कि भारत की दिमाग़ी गुलामी, राजनैतिक गुलामी से अधिक गहरी है। इसलिये भारतीयों को नई दुनिया का और वास्तविक स्थिति का ज्ञान देने की आवश्यकता है । अपने आदरणीय गुरुकुल संस्थापक की इसी प्रेरणा से स्फूर्ति पाकर जयचन्द्र जी ने ज्ञान-मूढ़ भारतीय जनता के सामने इसके इतिहास का यथार्थ रूप प्रस्तुत करने का संकल्प किया और कालान्तर में यही संकल्प उनकी इतिहास-संबंधी अनेकानेक पुस्तकों के रूप में प्रकट हुआ ।

सन् १९१९ में इतिहास, अर्थशास्त्र, वैदिक तथा संस्कृत साहित्य और प्राचीन भारतीय दर्शन के विषय लेकर उन्होंने विद्यालंकार की परीक्षा प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम रह कर उत्तीर्ण की । किन्तु इसके बाद भी लगभग दो वर्ष तक वह गुरुकुल में अध्यापन कार्य और शोध-कार्य करते रहे । इन दिनों गुरुकुल के अधिकारी और संचालक उनकी योग्यता के भारी प्रशंसक थे। उनकी इसी योग्यता से प्रभावित होकर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने उन्हें मार्शल लॉ के बाद पंजाब की सही स्थिति की जाँच करने और उसकी रिपोर्ट देने के लिये पंजाब भेजा था ।

इस प्रकार गरुकुल से राष्ट्रीय और बौद्धिक स्फूर्ति पाकर जयचन्द्र जी जीवन क विशाल कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुए और तब से अब तक वह निरन्तर सजग और कर्मशील रहे हैं । १९२१ से लेकर १९५७ तक की इस कर्त्तव्य-पथ की लम्बी यात्रा में भारतीय जनता को उनके दर्शन इन तीन विशि

रूपों में प्राप्त हुए, सर्वप्रथम एक प्रोफैसर के रूप में, दूसरे क्रांति-आन्दोलन के प्रेरक और देशभक्त के रूप में तथा तीसरे स्वतन्त्र चिन्तक इतिहास-शोधक के रूप में ।

पं० जयचन्द्र जी की आजीविका का मुख्य आधार अध्यापन कार्य ही रहा है । एक प्राध्यापक के रूप में उन्होंने देश के विभिन्न विद्यापीठों में विद्यादान किया है । १९२० में वह गुरुकुल कांगड़ी के कॉलिज विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए और उसके बाद १९२१ में गुजरात विद्यापीठ के सूरत नैशनल कॉलिज में प्राध्यापक बन कर आए । यहाँ रहते हुए उन्होंने विद्यापीठ के संचालकों को इस बात की भरसक प्रेरणा दी कि वर्तमान शिक्षा के बाहरी स्वरूप के साथ साथ भीतरी स्वरूप को भी बदला जाए ताकि भारतीय भाषाओं में प्रत्येक विषय पर विदेशी प्रभाव से मुक्त स्वतन्त्र चिन्तन-प्रसूत नवीन साहित्य का सृजन हो सके ।

१९२१ के अन्त में पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के आमन्त्रण पर वह लाहौर आ गए और पंजाब में क्रांति-आन्दोलन की स्रोत-रूप संस्था नैशनल कॉलिज में भारतीय इतिहास और राजनीति के प्राध्यापक नियुक्त हुए । उनका प्रतिभा-प्रदीप्त व्यक्तित्व और पढ़ाने का ढंग इतना आकर्षक और प्रभावशाली था कि थोड़े ही दिनों में प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार कॉलिज के सर्वाधिक प्रिय प्रोफैसर माने जाने लगे । पढ़ाते समय अपनी प्रत्येक बात को वह तर्क और शोध का सुदृढ़ आधार देकर प्रस्तुत करते जिसके फलस्वरूप सभी विद्यार्थी उनकी योग्यता का सिक्का मानने लगे और यह सिक्का केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं अपितु क्रांति के क्षेत्र में भी माना जाने लगा । 'सिंहावलोकन' में प्रो० जयचन्द्र जी की अध्यापन-योग्यता का उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध क्रांतिकारी लेखक श्री यशपाल ने लिखा है—"कॉलिज के प्रोफैसरों की विचारधारा का प्रभाव विद्यार्थियों के विचारों पर काफी पड़ा। इनमें प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है । जयचन्द्र

जी प्रायः ही विद्यार्थियों की तर्क और जिज्ञासा की प्रकृति को उकसाते रहते थे। वे भारतीय इतिहास और राजनीति के अध्यापक थे। उनकी चेष्टा रहती थी कि विद्यार्थी इतिहास को श्रुति और स्मृति मान कर केवल विश्वास द्वारा ही न अपनाते चले जाएँ बल्कि तर्क और खोज के दृष्टिकोण से अध्ययन करें। उनकी कक्षा में अनेक प्रकार के विषयांतरों पर भी वाद-विवाद हो जाता था, जैसे आस्तिकता-नास्तिकता, आत्मवाद और भौतिकवाद। उनका दृष्टिकोण विद्यार्थियों को बहुत ही सुलझा हुआ जान पड़ता था।"१

प्रो० जयचन्द्र की पढ़ाने की शैली किस प्रकार की मनोवैज्ञानिक थी, किये गए वाद-विवाद का निष्कर्ष किस प्रकार क्रांति की प्रेरणा देना होता था यह आगे चल कर श्री यशपाल के ही शब्दों में इस प्रकार है:—

"प्रो० जयचन्द्र जी विद्यालंकार की कक्षा में किसी भी शरारत के लिये अवसर नहीं रहता था। उनकी बात की उपेक्षा करने में अपना ही नुकसान था। कोई भी बेतुका प्रश्न सुन जयचन्द्र जी एक क्षण के लिये चुप हो जाते और फिर प्रश्नकर्ता से आँखें मिला पूछ लेते—'प्रस्तुत विषय से इसका क्या सम्बन्ध है?' इसलिये कोई वास्तविक समस्या होने पर ही प्रश्न किये जाते थे। जयचन्द्र जी का पाठ्य-विषय तो राजनैतिक सिद्धांत और शासन-व्यवस्था सम्बन्धी ऐतिहासिक विश्लेषण था परन्तु बातचीत प्रायः २०-२१ के सत्याग्रह आन्दोलन पर भी चल जाती और विद्यार्थी उसकी विफलता पर मनन किये बिना न रह सकते। अपने देश के लिये स्वतंत्रता-प्राप्ति की लगन मन में रखने वाले विद्यार्थियों के लिये इस मनन का एक ही परिणाम हो सकता था कि वे अपनी राजनैतिक समस्या के समाधान का कोई दूसरा मार्ग सोचें।"२

---

१ सिंहावलोकन, प्रथम भाग, पृष्ठ ७९

२ सिंहावलोकन, प्रथम भाग, पृष्ठ ८६

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि जहाँ अपनी विशिष्ट अध्यापन शैली के कारण वह विद्यार्थियों में अत्यधिक सम्मानित थे वहाँ उनके अध्यापन और वाद-विवाद का लक्ष्य केवलमात्र यही होता था कि विद्यार्थियों में स्वतन्त्रता और क्रांति की भावना उत्पन्न की जाय और इस भावना के लिये भावुकता या उत्तेजना का डगमगाता आधार नहीं प्रत्युत तर्क और तथ्य की ठोस नींव जुटाई जाय।

इस प्रकार एक योग्य प्रोफैसर के रूप में उनसे शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य भारत के विभिन्न भागों के विद्यार्थियों को प्राप्त हुआ। १९२७ से १९३० तक जयचन्द्र जी बिहार-विद्यापीठ पटना में भारतीय इतिहास की शिक्षा देते रहे। जुलाई १९३६ से दिसम्बर १९३८ तक वह काशीविद्यापीठ बनारस में इतिहास के प्राध्यापक रहे। १९३८-३९ में वह बम्बई में श्री के० एम० मुन्शी द्वारा संस्थापित भारतीय विद्यापीठ में भारतीय इतिहास के अध्यापक के रूप में और फिर १९३९ में बम्बई विश्वविद्यालय में प्राचीन इतिहास और संस्कृति के अवैतनिक प्रोफैसर के रूप में भी काम करते रहे। १९४१ में वह पटना विश्वविद्यालय के विज़िटिंग प्रोफैसर के पद पर भी रहे।

इस प्रकार अपने अध्यापन-कार्य के विभिन्न क्षेत्रों में जयचन्द्र जी ने अपूर्व सफलता प्राप्त की। जहाँ विद्यार्थियों के मन जीते वहाँ उन्हें इतिहास—विशेषतः भारतीय इतिहास की यथार्थ स्थिति का ज्ञान भी दिया और उनमें देश की स्वतन्त्रता और प्रगति की प्रेरणा का मन्त्र फूंका। समूचे भारत के उच्चशिक्षित बुद्धिवादी वर्ग में सैंकड़ों ऐसे व्यक्ति हैं जिनके इतिहास-ज्ञान को सही मार्ग-निर्देश देने का श्रेय पं० जयचन्द्र जी विद्यालंकार को ही प्राप्त है।

श्री जयचन्द्र जी के जीवन का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है उनका क्रांतिकारी देशभक्ति-पूर्ण रूप। इस दृष्टि से भारतीय स्वातन्त्र्य-संघर्ष के

इतिहास में सशस्त्र क्रान्ति का अध्याय जोड़ने का बहुत कुछ श्रेय जयचन्द्र जी को भी प्राप्त है। जयचन्द्र जी को देशभक्ति की घुट्टी तो घर के आर्यसमाजी वातावरण में ही मिली और इसीलिये उनके परिवार के अन्यान्य सदस्यों का भी स्वतन्त्रता-युद्ध में अपना-अपना योगदान है। जयचन्द्र जी की बड़ी बहिन श्रीमती पार्वती देवी ने महात्मा गांधी के आदेशानुसार १९१८ में रौलेट ऐक्ट के विरुद्ध आन्दोलन में महत्वपूर्ण भाग लिया था और वह पहली भारतीय महिला थीं जिन्होंने उस आन्दोलन में जेल-यात्रा की। इसके पश्चात् भी वे यथासमय देश के स्वातन्त्र्य-आन्दोलनों में १९४७ तक खूब डट कर भाग लेती रही हैं। आपके छोटे भाई श्री इन्द्र जी भी प्रसिद्ध क्रान्तिकारी रहे हैं। १९२८ में देवघर में इन्द्र जी और उनके १९ साथियों पर षड़यन्त्र का मुकद्दमा चला था। इस मुकद्दमे में लगभग एक साल की कैद के बाद उन्हें हाई कोर्ट ने छोड़ दिया था। १९३० में उन्हें बंगाल आर्डिनैन्स के अधीन पकड़ा गया और १९३२ में बंगाल में फिर न घुसने का आदेश देकर छोड़ा गया था।

देशभक्त परिवार के सदस्य श्री जयचन्द्र जी की स्वातन्त्र्य-भावना गुरुकुल के राष्ट्रीय वातावरण में खूब विकसित हुई। गुरुकुल से बाहर आकर भी उनमें यह भावना उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। १९२३ में फर्रुखाबाद और इलाहाबाद में उनकी भेंट प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल से हुई। जयचन्द्र जी ने सान्याल दादा से कहा कि आने वाले १५-२० वर्षों में ब्रिटेन और जर्मन में युद्ध अवश्य होगा। इसलिये १९१५ की तरह भारतीय सेना को उकसा कर देश में विद्रोह करवा देना चाहिये। इसके लिये अपने नवयुवकों को विदेशों में भेज कर युद्ध-विज्ञान में प्रशिक्षित करने की समस्या थी। ऐसे युवकों को कलकत्ते से जहाज़ों द्वारा विदेश भेजने का काम श्री सुशील बैनर्जी के ज़िम्मे और भारत की स्थल सीमाओं द्वारा वैसा रास्ता बनाने का काम जयचन्द्र जी के ज़िम्मे लगाया गया। इसके अतिरिक्त नया क्रान्ति संघटन खड़ा करने और नेपाली युवकों से संपर्क स्थापित करने का

काम भी जयचन्द्र जी को ही सौंपा गया। जयचन्द्र जी ने इस योजना के अनुसार काम करना शुरू किया। पंजाब में क्रान्तिकारी युवकों का दल संगठित किया और विदेशों में सैनिक-प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये कुछ नवयुवकों के भेजने का प्रबन्ध भी कर लिया। जयचन्द्र जी नें ग़दर पार्टी के जेल से भागे हुए फरार नेता गुरुमुखसिंह से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। जापान भेजने के लिये एक दर्जन नवयुवक भी उन्होंने तैयार कर लिये थे। उनमें भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त और जतीन दास भी थे।

इस प्रकार यह उन्हीं की प्रेरणा का फल था कि नैशनल कॉलिज के विद्यार्थी वर्ग में से स० भगतसिंह, सुखदेव, यशपाल जैसे भारत-प्रसिद्ध क्रान्तिकारी हुए। जयचन्द्र जी विद्यार्थियों को किस प्रकार क्रांति-मन्त्र से दीक्षित करते थे, इसकी थोड़ी सी झलक उनके अध्यापन-नैपुण्य के प्रसंग में आ चुकी है। इतिहास और राजनीति पढ़ाते समय वह प्रसंगवश ऐसी बातचीत शुरू कर लेते जिसका सम्बन्ध सामयिक राजनीति से होता और इस प्रकार सामयिक राजनैतिक समस्याओं के समाधान रूप में वह क्रान्ति का महत्व प्रतिपादित करते। जैसा कि श्री यशपाल ने उल्लेख किया है वह उचित अवसर और पात्र देख कर अपने शिष्य से उसके जीवन के भावी कार्यक्रम और उद्देश्य के सम्बन्ध में बातचीत करते और उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप बहुत से विद्यार्थियों ने देशसेवा को ही अपने जीवन का भावी कार्यक्रम और उद्देश्य बना लिया।

'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी' के नाम से लाहौर में परचों के बाँटने, 'नौजवान भारत सभा' की स्थापना आदि सभी कामों में किसी न किसी रूप में जयचन्द्र जी का हाथ था। इन क्रान्तिकारियों में जयचन्द्र जी की स्थिति एक गुरु की-सी थी। आगे चल कर इन्हीं क्रान्तिकारियों ने हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातन्त्र सेना का संगठन किया, पंजाब केसरी लाला लाजपत राय पर घातक प्रहार करनें वालें अंग्रेज़ डिप्टी सुपरिण्टैण्डैण्ट जे० पी० साण्डर्स को गोली से उड़ा कर लाला जी की हत्या का बदला लिया और ८ अप्रैल

१९२९ के दिन बहुमत के विरोध के बावजूद वायसराय की विशेष स्वीकृति द्वारा जन-सुरक्षा बिल (Public Safety Bill) और औद्योगिक विवाद बिल (Trades Disputes Bill) को कानून बना देने की घोषणा के समय केन्द्रीय असैम्बली में बम फेंक कर भारतीय जनता के तीव्र असन्तोष और घृणा को प्रकट किया।

देश-सेवा के इस क्रान्तिकारी पक्ष के अतिरिक्त जयचन्द्र जी ने अनेक सार्वजनिक आन्दोलनों में भाग लिया और उनका नेतृत्व किया। १९२२ से ३० तक वह पटना-युवक संघ के प्रधान रहे और इसी अवधि में उन्होंने पटना में युवक सत्याग्रह का शानदार संगठन किया। अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों और राष्ट्रीय कार्यवाहियों के कारण जयचन्द्र जी विदेशी सरकार की दृष्टि में खतरनाक व्यक्ति समझे जाते थे। इसीलिये कई बार आपको शासकों की कोपदृष्टि का शिकार भी होना पड़ा। १५ मई १९३० को आप डेरा इस्माईल खां पहुँचे तो आपको सीमाप्रान्त सुरक्षा विनियम के अधीन उसी रात वहाँ से निकाल दिया गया और आप पर सीमाप्रान्त में दाखिल न होने का यह प्रतिबन्ध १९३७ तक लागू रहा। आपकी उग्र देशभक्तिपूर्ण गति-विधियों के कारण आपको देहली प्रान्त से भी निकाल दिया गया और आप पर वहां न दाखिल हो सकने का यह प्रतिबन्ध भी १९३७ तक बना रहा। किन्तु जयचन्द्र जी सरकार की इस कोपदृष्टि से घबराने वाले व्यक्ति नहीं थे। वह जहाँ भी रहे जिस रूप में भी रहे किसी न किसी तरह कभी कलम से तो कभी वाणी से, कभी हाथ से तो कभी साथ से देशसेवा के कामों में जुटे ही रहे। १९४२ में महात्मा गान्धी ने 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया तो समूचे देश में एक छोर से दूसरे छोर तक क्रान्ति की लहर-सी दौड़ गई। विदेशी शासन पाशविक दमन पर उतर आया और जनसमूह सामूहिक हिंसा पर। सरकार चुन-चुन कर देशभक्तों और राष्ट्रकर्मियों को जेलों में डालने लगी। तब भला जयचन्द्र जी ही सरकार की नज़रों से कैसे बच सकते थे? आपको भी सुरक्षा बन्दी बना कर लखनऊ, लाहौर जेल, लाहौर की बदनाम

शाही किला जेल और कैम्बलपुर (अटक) जेल में रखा गया। इस प्रकार आप अप्रैल १९४३ से फरवरी १९४६ तक लगभग तीन साल विदेशी सरकार के अतिथि रहे। अन्ततः भारत की स्वतन्त्रता आपके लिये भी स्वतन्त्रता बन कर आई और तब से आप मूक भाव से राष्ट्रभारती और इतिहास-शोध के रचनात्मक कार्यों द्वारा ही 'जनमनगण' की सेवा कर रहे हैं।

श्री जयचन्द्र जी के जीवन का तीसरा किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है उनका इतिहासकार का रूप। इस क्षेत्र में उन्होंने जो शोध-कार्य किए हैं—भारतीय इतिहास को उसके नवीन किन्तु यथार्थ रूप में जनता के सामने रखा है—वह सब कुछ अप्रतिम है इतिहास के इस क्षेत्र में उनकी यह देन दो प्रकार की है, एक लेखक के रूप में और दूसरी पथ-प्रदर्शक के रूप में।

जैसा कि स्पष्ट है विदेशी सरकार के संकेत पर लिखी भारतीय इतिहास-सम्बन्धी पुस्तकों के खोखलेपन को जयचन्द्र जी ने अपने गुरुकुल के अध्ययन काल में ही भली-भाँति भाँप लिया था। स्वामी श्रद्धानन्द जी चाहते थे कि भारतीय इतिहास का वास्तविक स्वरूप जनता के सामने उसकी अपनी भाषा में ही प्रस्तुत किया जाय। जयचन्द्र जी ने एक बार स्वामी जी की इस अभिलाषा को समझा और फिर वे सदा के लिये इसी मार्ग के पथिक बन गए। इतिहास-शोध की ओर जयचन्द्र जी की रुचि देख कर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने उन्हें इतिहास और पुरातत्व के प्रसिद्ध विद्वान राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा के पास अजमेर भेजा। १९२१-२२ में ओझा जी के पास रह कर जयचन्द्र जी ने इतिहास की शोध-पद्धति का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया। १९२७ में पटना में रहते हुए वे प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल के संपर्क में आए और उनसे भी उन्होंने बहुत कुछ सीखा। जिसे उन्होंने अपने ही शब्दों में इस प्रकार स्वीकार किया है—"श्रद्धेय ओझा जी से मैंने पहल पहल ऐतिहासिक खोज के औजार चलाना सीखा था—किन्तु

उसके बाद भी मैं उन अनेक औज़ारों को ग़लत चला बैठता यदि जायसवाल जी के चरणों में बैठकर मैं अपनी सूझ को और निर्णय शक्ति को ठीक ठीक न सधा पाता।"१

यों ऐतिहासिक लेख लिखने की अपनी प्रतिभा का परिचय वह १९२० की 'प्रभा' में एक लेख लिख कर दे चुके थे। १९२१ में उन्होंने भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करने वाला सम्पूर्ण भारतीय इतिहास लिखने का निश्चय किया था किन्तु उनका यह निश्चय कार्यरूप में परिणत होना १९२६ से शुरू हुआ और १९३१ में उनका पहला ग्रन्थ 'भारत भूमि और उसके निवासी' प्रकाशित हुआ। १९३३ में उनका ११५२ पृष्ठों का विशाल ग्रन्थ 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' प्रकाशित हुआ। देश-विदेश के गण्य-मान्य विद्वानों ने इन ग्रंथों की प्रशंसा मुक्त कंठ से की। डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी, डा० हीरालाल, आचार्य जायसवाल, प्रो० सिल्व्यां लवी, प्रो० विनय कुमार सरकार आदि विद्वानों ने जयचन्द्र जी के एतिहासिक ज्ञान का अभिनन्दन किया। 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' पर ही जयचन्द्र जी को मार्च १९३४ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के देहली अधिवेशन के अवसर पर १२०० रुपये का हिन्दी जगत् का सर्वोच्च पुरस्कार मंगला-प्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया। जयचन्द्र जी ने इसके बाद भी इतिहास की अनेक अनुपम रचनाएँ हिन्दी और इंग्लिश दोनों भाषाओं के माध्यम से दीं।

निस्संदेह इतिहास-सम्बन्धी नई खोज से परिपूर्ण ऐसी रचनाएँ आर्थिक दृष्टि से लेखक के लिये विशेष लाभदायक सिद्ध नहीं हुईं, क्योंकि भारत में ऐसी मौलिक खोज-पूर्ण पुस्तकों के लिये विशेषत: तब जब कि वे किसी देशी भाषा में लिखी गई हों—कोई मार्कीट नहीं। किन्तु जयचन्द्र जी इस आर्थिक पहलू की ओर बिना ध्यान दिये दत्तचित्त होकर अपने रचनात्मक

---

१ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० १८-१९

कार्यों में संलग्न रहे हैं और आज भी हैं। अपनी शोध द्वारा जयचन्द्र जी ने भारतीय इतिहास को किस परिवर्तित रूप में जनता के सामने प्रस्तुत किया, पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा चलाई गई किन-किन भ्रान्त धारणाओं को दूर किया और क्या—क्या नई खोजें कीं? यह सब एक पृथक लेख का विषय है। किन्तु यहाँ तो संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने भारतीय इतिहास में भारतीय आत्मा को मुखर किया और इस तरह भारत राष्ट्र की एक एसी महान सेवा की है जिसके लिये भारतवासी सदा उनके कृतज्ञ रहेंगे।

इतिहास-क्षेत्र में दूसरी प्रकार की सेवा श्री जयचन्द्र जी ने एक पथ-प्रदर्शक के रूप में की है। दर्जनों इतिहास-सम्मेलनों की आपने प्रधानता की और अनेक इतिहास-संस्थाओं को किसी न किसी रूप में आपका दिग्दर्शन प्राप्त रहा है। १९३६ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागपुर के इतिहास-विभाग के आप प्रधान रहे। फिर मार्च १९३७ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन मद्रास में भी इतिहास विभाग के प्रधान आप ही बने। इसी साल दिसम्बर में आप बिहार प्रान्तीय हि० सा० सम्मेलन आराह के इतिहास विभाग के प्रधान बने। सितम्बर १९३८ में फिर अ० भा० हि० सा० सम्मेलन के शिमला अधिवेशन में इतिहास विभाग के प्रधान बने। इसके अतिरिक्त आप १९३३-३४ में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा स्मारक समिति के अवैतनिक मन्त्री रहे और आपने 'ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ' का सम्पादन किया। दिसम्बर १९३७ में भारतीय इतिहास परिषद की स्थापना की और आप ही इस संस्था के अवैतनिक मन्त्री निर्वाचित हुए। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद इस संस्था के रैक्टर निर्वाचित हुए थे। इस संस्था ने इतिहास-सम्बन्धी खोज के क्षेत्र में आपने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। नवम्बर १९३९ से १९४३ तक आप भारतीय इतिहास परिषद् बनारस के मन्त्री र। १९४७ से ५० तक आप फिर इस संस्था के मन्त्री रहे।

इस प्रकार इतिहास-सम्बन्धी अनेक सम्मेलनों के प्रधान और इतिहास-सम्बन्धी अनेक संस्थानों के पदाधिकारी के रूप में आपने इतिहास की जो सेवा की है वह प्रत्येक दृष्टि से अपनी मिसाल आप ही है।

अपनी इन मुख्य विशेषताओं के अतिरिक्त जयचन्द्र जी का एक विशिष्ट रूप भारत-भारती के उपासक और समर्थक का भी है। आप अनेक प्रान्तीय साहित्य सम्मेलनों के प्रधान रहे हैं और १९५० में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कोटा अधिवेशन के प्रधान पद को भी सुशोभित कर चुके हैं। यथासमय आपने हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का ज़ोरदार समर्थन किया है किन्तु वह सब भी एक पृथक लेख का विषय है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार का जीवन देशभक्ति, क्रान्तिकारिता, योग्यता, मेधा, लगन और कर्त्तव्य-निष्ठा की एक ऐसी कहानी है जिसका नायक प्रत्येक दृष्टि से महान् है और जिसके पाठक तथा श्रोता प्रत्येक दृष्टि से सौभाग्यवान है। जयचन्द्र जी की सेवा में कोटा नगरपालिका की ओर से प्रस्तुत मानपत्र में कहा गया था—

"आप विद्यालंकार तो हैं ही, साथ ही अपूर्व कर्मण्यता एवं धुरन्धर विद्वत्ता के कारण मां भारती के भी अमूल्य अलंकार बन गए हैं जिसकी पवित्र कान्ति से उसका कलेवर सदा जगमगाता रहेगा।" इन शब्दों में जयचन्द्र जी के प्रति भारतीय जनता की मनोभावनाएँ अपने वास्तविक रूप में मुखरित हुई हैं।

आज कुछ समय से जयचन्द्र जी फिर अपनी जन्मभूमि पंजाब में लौट आए हैं आशा है आज का पंजाब आपके महान् व्यक्तित्व से अधिकाधिक लाभान्वित होगा।

—o—

पं० जयचन्द्र विद्यालंकार की हिन्दी को देन

१.—भारतवर्ष में जातीय शिक्षा (१९१९)

२.—प्राचीन भारत में राष्ट्रीय ऋण (१९२०)

३.—मंडलीक-काव्य-सुराष्ट्र के इतिहास पर नया प्रकाश (१९२२)

४.—भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार (१९२५)

५.—भारतवर्ष का एक राष्ट्रीय इतिहास (१९२६)

६.—प्राचीन भारतीय अनुश्रुतिगम्य इतिहास (१९२७)

७.—ऐतिहासिक पद्धति (१९२९)

८.—भारत भूमि और उसके निवासी (१९३१)

९.—भारतीय इतिहास की रूपरेखा (१९३३)

१०.—भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न (१९३४)

११.—ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ (संपादित) (१९३४)

१२.—नकुल का पश्चिम दिग्विजय (१९३४)

१३.—नागपुर सम्मेलन की इतिहास परिषद् के सभापति का अभिभाषण (१९३६)

१४.—उत्कीर्णलेखांजलिः (१९३६)

१५.—सुराष्ट्र क्षत्रप इतिहास की पुनः परीक्षा (१९३७)

१६.—बिहार प्रान्तीय सम्मेलन की इतिहास परिषद् के सभापति का अभिभाषण (१९३९)

१७.—मर्ग और खाल (१९३८)

१८.—शिमला सम्मेलन की इतिहास परिषद् के सभापति का अभिभाषण (१९३९)

१९.—इतिहास प्रवेश (१९४०)

२०.—उन्नीसवीं शती की कुछ आर्थिक राजनीतिक संस्थाएँ (१९३९)

२१.—हमारे राष्ट्र की परिणति–राजनीतिक इतिहास (१९४१)

२२.—हमारी आज की लड़ाई (१९४२)

२३.—लघु इतिहास-प्रवेश (१९५०)

२४.—मनुष्य की कहानी (१९५४)

२५.—हमारा भारत (१९५४)

२६.—भारतीय कृष्टि का क ख (१९५५)

२७.—पुरखों का चरित (तीन भाग) (१९५५)

२८.—भारतीय इतिहास की मीमांसा

२९.—गोरखाली इतिहास की मुख्य धाराएँ।

भारतीय इतिहास पर अंग्रेजी में लिखा साहित्य

1. The Date of Kanihka (1926)
2. Raghu's Line of conquest along India's Northern Border (1930) (रघुवंश में वर्णित रघु-दिग्विजय का भूगोल)
3. Telugu Numerals in the North Indian Play of Guli-Danda (1933)
4. The Indian Emperor Contemporary of Augustus (1933)
5. Uluka Country (1934)
6. Mount Visnupada (1934)
7. Regional and Linguistic Structure of India (1937)
8. The Sikhs as a factor in the 18th Century-History of India.
9. History of the Surastran Ksatrapas re-examined (1940)
10. The Family of Castana—Their Coinage and History re-examined (1941)
11. All over Six Numerals (1949) (अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के विवाद का युक्ति तर्क पूर्ण उत्तर)

—o—

इतिहासोन्मीलन में श्री विद्यालंकार का योगदान

महाशून्य के विवर में विशाल विश्व के शतदल ने चुपके से नेत्रोन्मीलन किया। इसकी कोमल पंखुड़ियों पर समय की अजस्र गति का अद्भुत प्रभाव पड़ा और काल-क्रम से इस पर नाना जीव-जन्तु तथा प्राणी अवतरित होते रहे और अपने स्थायी परन्तु अस्पष्ट से चिन्ह इस पर छोड़ते गए। इस प्रकार उन्नति और ह्रास के साथ साथ निरन्तर विकास होता रहा और होता रहेगा। विकास के इसी संघर्ष के लेखे-जोखे का नाम इतिहास है।

इतिहास हमें सुदूर अतीत की गहन-गुफाओं में ले जाकर हमारी आँखें खोलता है, हमें वस्तु-स्थिति का परिचय देता है और इसी की अनुकम्पा से हम अपने स्वरूप को, अपने राष्ट्र की आत्मा को भली-भाँति पहचान पाते हैं।

१८वीं शताब्दी में अंग्रेज़ विद्वानों और साहित्यिकों ने हमारे राष्ट्र का इतिहास जानने की इच्छा प्रकट की। फलस्वरूप इधर-उधर खोज प्रारम्भ हुई, परन्तु हमारा इतिहास उस रूप में विद्यमान न था जिस रूप में वह पाश्चात्य देशों में उपलब्ध था। १८३९ ई० में एल्फिनस्टोन इस परिणाम पर पहुँचा कि मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारतीय इतिहास की घटना को किसी क्रमिक सिलसिले में गूँथना प्रायः असम्भव है।[१] परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारे पूर्वज इतिहास की ओर से सर्वथा विमुख रहे, प्रत्युत हमारे यहाँ इतिहास को पंचम वेद माना गया है।

---

१. Elphinstone, History of India, quoted by V.A. Smith in his Early History of India.

'छान्दोग्य उपनिषद्' ७–१–२ में नारद सनत्कुमार को यह बताते हुए कि मैंने सब विद्याएँ पढ़ी हैं, गिनाता है:—ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुवदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास–पुराणं पंचवेदानां वेदं—भगवन् मैं ऋग्वेद को पढ़ता हूं, यजुर्वेद को, साम वेद को, चौथे आथर्वण को, पाँचवें इतिहास पुराण को जो कि वेदों का वेद है। आचार्य कौटिल्य ने लिखा है (अर्थ शास्त्र १–३)———सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी। अथर्ववेदेतिहास वेदौ चेति वेदाः।———साम, ऋक् और यजुर् वेद ये त्रयी हैं, ये तथा अथर्व वेद और इतिहास वेद ये वेद हैं।

पाश्चात्य विज्ञानवाद ने हमारे पंचम वेद—वेदों के वेद—को विकृत, असत्य और विशृंखल समझा। इस समझ का मूल कारण पूर्व और पश्चिम के दृष्टिकोणों का अन्तर ही है। अस्तु, वे लोग इस विकृत और विशृंखल इतिहास की शृंखलाओं को नए सिरे से जोड़ने में लीन हुए और उन्होंने हमारे पंचम वेद तथा अन्य उपलब्ध सामग्री से भारत का नवीन चित्र प्रस्तुत किया। चूंकि राज्य-सत्ता विदेशियों के हाथ रही, इसलिये उन चित्रों का मान भी पर्याप्त मात्रा में हुआ। परन्तु देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत ओजस्वी तथा तरुण विद्वानों द्वारा अपने राष्ट्र की इस प्रकार की गई अवहेलना सहन नहीं हुई। वे साहसी वीर मैदान में कूदे और उन्होंने उसी सामग्री से भारतीय इतिहास का वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया। उंगली पर गिने जाने वाले इन्हीं साहसी वीरों में पं० जयचन्द्र जी विद्यालंकार का प्रमुख स्थान है। अन्य भारतीय इतिहास-लेखकों के पास इतिहास-लेखक की दिव्य दृष्टि, राष्ट्र-प्रेम और तथ्यों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता अवश्य थी परन्तु उनमें से अधिकांश संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं और उनके विशाल साहित्यिक ज्ञान से प्रायः वंचित ही थे। उन्होंने जो कुछ देखा वह विदेशी चश्मे से

ही देखा।१ विदेशी चश्मे का एक उदाहरण पर्याप्त होगा। श्री तेजा सिंह और गंडा सिंह जी 'सिक्खों के संक्षिप्त इतिहास' (A Short History of the Sikhs, Volume I) की भूमिका में लिखते हैं—

"The translation of these books (books written in Persian by Muslim Historians) into English still further distorted the truth with a gross inexactitude, which appears almost purposeful at times, they twisted the text or interpolated passages in translation for which there was no authority in the original·········"

[इन पुस्तकों (फारसी इतिहास लेखकों द्वारा लिखित) के अंग्रेज़ी अनुवाद में सच्चाई की और अधिक हत्या की गई। सोलहों आने झूठ का आश्रय लेते हुए, जो अधिकांशतः उद्देश्यपूर्ण प्रतीत होता है, उन्होंने मूल पाठ को तोड़ा-मरोड़ा अथवा अनुवाद में ऐसे परिच्छेदों का समावेश कर दिया जिनका मूल में सर्वथा अभाव था————————] इस प्रकार के अनुवाद हो जाना उस समय साधारण-सी बात थी क्योंकि "१८७० ई० के लगभग से युरोप की विश्व प्रभुता और युरोपी भूमि और नृवंश की श्रेष्ठता का विचार युरोपी अभिजात वर्ग के दिमाग़ पर इस तरह प्राविष्ट हो गया और उस आवेश का रंग उसकी आँखों पर इस तरह छा गया कि इतिहास और मानव जीवन के किसी भी पहलू को वे उस विचार का

१.—उदाहरण के लिए 'विश्व इतिहास की एक झलक' के लेखक पं० जवाहर लाल नेहरू अपनी 'Discovery of India' में लिखते हैं—

"Yet I approached her almost as an alien critic. To some extent I came to her via the west and looked at her as a friendly westerner might have done······(P. 34)

यही स्थिति अधिकांशतः अन्य विद्वानों की भी रही।

रंग दिए बिना देख ही न पाते रहे ।"१ इन इतिहास-लेखकों में अग्रणी श्री स्मिथ के दृष्टिकोण की विकृति की आलोचना करते हुए श्री विनय-कुमार सरकार ने लिखा था—"ऐतिहासिक दृष्टि-क्रम से देखने की योग्यता का श्री स्मिथ के लेखों में प्रायः अभाव है ।—आक्सफोर्ड हिस्ट्री में एक और पक्षपात का भाव है जो कि उन निहित स्वार्थों और उपस्थित शक्तियों की तरफ से, जिनकी सेवा में स्मिथ की विद्वत्ता जुती हुई है, राजनैतिक प्रचार करने के कारण पैदा हुआ है । वह ग्रन्थ भारतीय विद्यालयों के छात्रों द्वारा पाठ्य पुस्तक के रूप में रटा जाने को है । इसलिए (उन्हें) घटनाओं को इस प्रकार जुटाना था कि दौड़ते आदमी को भी 'गोरों के बोझे' का युक्तिसंगत होना प्रमाणित दिखाई दे जाए"।२ इन्हीं कारणों से यूरोपियन विद्वानों द्वारा निर्मित भारतीय इतिहास अथवा उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया भारतीय साहित्य का अनुवाद विकृत और दोषपूर्ण रहा । हमारे विद्वान इतिहास-लेखकों ने बड़े परिश्रम से तथ्यों की छान-बीन आरम्भ की परन्तु संस्कृत के सुदृढ़ ज्ञान के अभाव में उनके लिए पूर्ण सफलता प्राप्ति कठिन रही । इधर विद्वद्वर श्रीयुत विद्यालंकार जी में सभी अपेक्षित गुणों का समावेश था, अर्थात् अन्य विद्वानों की अपेक्षा आप में संस्कृत, पाली और प्राकृत साहित्य का मर्म समझने और उससे यथार्थ लाभ उठा कर वैज्ञानिक रूप-रेखा के आधार पर अद्यावधिक इतिहास तैयार करने की क्षमता विद्यमान थी ।

श्री विद्यालंकार जी को प्रमुख इतिहासकार श्री ओझा जी के सुयोग्य शिष्य होने का मान प्राप्त है । आपने ओझा जी की छत्र-छाया में इतिहास का गहन अध्ययन तथा मनन किया और उनकी चिन्तनशीलता ने उनके निगूढ़ अन्तर में ऐतिहासिक प्रवृत्ति का बीज बो दिया जो प्राचीन साहित्य

---

१. इतिहास प्रवेश—पंचम संस्करण, प्रस्तावना—श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ।

२ Political Science Quarterly Vol. XXXIV, 1919 P. 645-46 V.K. Sircar.

की खाद पाकर तथा राष्ट्र-प्रेम की पावन धारा से सिंचित होकर पल्लवित तथा पुष्पित हुआ। इन पुष्पों की सुगंध आज दिशा-विदिशा को सुगंधित करती हुई हिन्दी संसार को चार चाँद लगा रही है।१ वस्तुतः सच्ची राष्ट्रीय भावना ही इन पुष्पों में सुन्दर तथा मधुर गंध भर सकी है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि राष्ट्रीय प्रेम के वशीभूत होकर श्री विद्यालंकार जी ने किसी तथ्य का उद्घाटन न किया हो अथवा उसे विकृत रूप प्रदान किया हो। इस संबन्ध में उन्हीं के शब्दों में उनके आदर्श को रखना अधिक श्रेयस्कर जान पड़ता है—

> "राष्ट्रीय दृष्टि से अपने इतिहास के मनन का यह अर्थ हरगिज़ नहीं कि हम अपने राष्ट्र की कमज़ोरियों को नज़र-न्दाज़ करें। उल्टा उन्हीं को समझने के लिये हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और हमीं उन्हें ठीक समझ सकते हैं।२

सारांश यह है कि विद्यालंकार जी का प्रयत्न सर्वथा श्लाघ्य और निष्पक्ष है।

श्री विद्यालंकार जी को लग-भग ३० ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखने का श्रेय प्राप्त है। आप १६१६ से आज तक निरन्तर इस दिशा में बढ़ते चले आ रहे हैं। आपके ऐतिहासिक ग्रन्थ निम्नलिखित हैं:—

---

१. सर्वश्री ओझा जी तथा जायसवाल जी का आभार स्वीकार करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है—श्रद्धेय ओझा जी से मैंने पहले ऐतिहासिक खोज का औज़ार चलाना सीखा था—किन्तु इसके बाद भी मैं अनेक बार उन औज़ारों को गलत चला बैठता यदि जायसवाल के चरणों में बैठ कर मैं अपनी सूझ-बूझ को और निर्णयशक्ति को ठीक-ठीक न सधा पाता (भारतीय इतिहास की रूपरेखा, १६३३ वस्तु कथा, पृष्ठ १८–१६)

२. जयचन्द्र विद्यालंकार (२५–१२–३७) बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन आरा की इतिहास परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण।

हिन्दी

१.—प्राचीन भारत में राष्ट्रीय ऋण (१६२०) २.—मंडलीक काव्य-सुराष्ट्र के इतिहास पर नया प्रकाश (१६२२) ३.—भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार (१६२५) ४.—भारतवर्ष का राष्ट्रीय इतिहास (१६२६) ५.—प्राचीन भारतीय अनुश्रुतिगम्य इतिहास (१६२७) ६.—ऐतिहासिक पद्धति (१६२६) ७.—भारत भूमि और उसके निवासी (१६३१) ८.—भारतीय इतिहास की रूपरेखा ६.—ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ (संपादित) (१६३४) १०.—नकुल का पश्चिम दिग्विजय (१६३४) ११.—नागपुर सम्मेलन की इतिहास-परिषद् के सभापति का अभिभाषण (१६३६) १२.—सुराष्ट्र क्षत्रप इतिहास की पुनः परीक्षा (१६३७) १३.—बिहार प्रान्तीय सम्मेलन की इतिहास-परिषद् के सभापति का अभिभाषण (१६३६) १४.—शिमला सम्मेलन की इतिहास-परिषद् के सभापति का अभिभाषण (१६३६) १५.—इतिहास-प्रवेश (१६४०) (भारतीय इतिहास का उन्मीलन) १६.—उन्नीसवीं शती की कुछ आर्थिक राजनीतिक संस्थाएं (१६३६) १७.—हमारे राष्ट्र की परिणति (राजनैतिक इतिहास) (१६४१) १८.—हमारी आज की लड़ाई (१६४२) १६.—लघु इतिहास प्रवेश (१६५०) २०.—भारतीय इतिहास की मीमांसा (नवीनतम)।

अंग्रेज़ी में लिखित ऐतिहासिक पुस्तकें

१.—कनिष्क की तिथि (The Date of Kanishka) (१६२६) २.—रघुवंश में वर्णित रघु-दिग्विजय का भूगोल (Raghu's line of conquest along India's Northern Border) (१६३०)। ३.—उत्तर भारत के गुल्ली डंडे के खेल में तेलगु अंक (Telugu Numerals in the North Indian Play of Guli Danda) (१६३३) ४.—ऑगस्टस का समकालीन भारतीय सम्राट (The Indian Emperor contemporary of Augustus) (१६३३) ५.—उलूका देश

(Uluka Country) (१९३४) ६.–Mount Visnupada (विष्णु पद शृङ्ग) (१९३४) ७.—भारत का प्रादेशिक और भाषाई ढांचा (Regional & linguistic structure of India) (१९३७) ८.—१८वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास में सिक्खों का महत्व (The Sikhs as a factor in the 18th century history of India) ९.—सुराष्ट्र के क्षत्रपों के इतिहास का पुनरावलोकन (१९४०) १०—शासतान वंश—उनके सिक्कों और इतिहास का पुनरावलोकन (The family of Castana–their coinage and History re-examined) (१९४१) ११.—अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के विवाद का युक्ति-तर्कपूर्ण उत्तर (All over Six Numerals)

उपरि-निर्दिष्ट पुस्तक-सूची ही विद्यालंकार जी की ठोस सेवा का जीता-जागता सबूत है, फिर भी हम विद्यालंकार जी की कतिपय प्रमुख पुस्तकों पर विहंगम दृष्टिपात करते हुए उनके स्तुत्य कार्य की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। इस विवेचन का यह अभिप्राय नहीं कि श्री विद्यालंकार जी की विवेचनातिरिक्त पुस्तकों का महत्व कुछ कम है, प्रत्युत हम ने स्थानाभाव से प्रमुख पुस्तकों के विवेचन को ही अधिक लाभप्रद समझा है।

भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार (१९२५)

यह पुस्तक आज से लग-भग ३२ वर्ष पूर्व प्रकाश में आई। यह पुस्तक प्रौढ़ लेखक की प्रारम्भिक कृतियों में से एक है। इसके प्रणयन से भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय श्री विद्यालंकार जी को ही प्राप्त हुआ। सबसे पहले आपने ही इस बात को महसूस किया कि किसी राष्ट्र के इतिहास को जानने से पूर्व उसके भौगोलिक आधार को समझना नितान्त आवश्यक है। डॉ० मोती चन्द्र लिखते हैं—"..In his inspiring talks to us he (Dr. Jayaswal)

always made it a point to enthuse us about ancient Indian Geography without a knowledge of which Indian History in his opinion looked like an open air drama in which members of the audience are required to do their own guessing about the scenic arrangements."

अर्थात् "अपनी बातचीत के दौरान में श्री जायसवाल जी प्राचीन भारत के भूगोल सम्बन्धी (ज्ञान प्राप्ति के निमित्त) हम लोगों को प्रोत्साहित करते रहते। उनका विचार था कि प्राचीन भारत के भूगोल की पृष्ठ-भूमि के अभाव में भारतीय इतिहास आसमान की खुली छत के नीचे होने वाले अभिनय के समान प्रतीत होगा जिसमें द्रष्टा को दृश्यव्यवस्था का स्वयं अनुमान लगाना पड़ता है।" इससे स्पष्ट है कि श्री विद्यालंकार जी की उक्त पुस्तक ने कितने बड़े अभाव की पूर्ति की।

उन्हीं दिनों जब कि उक्त पुस्तक प्रकाशित हुई अर्थात् १९२५ ई० के लगभग क्रान्तिकारियों का आंदोलन ज़ोरों पर था। इस पुस्तक की एक प्रति देवघर षड़यन्त्र केस के अभियुक्त श्री इन्द्र चन्द्र नारंग के घर के पास पाई गई। सरकारी वकील ने इसे अंग्रेज़ी में अनूदित करके उच्च न्यायालय के अध्यक्ष के सम्मुख प्रस्तुत किया और इसके विरुद्ध उक्ति देते हुए कहा कि यह पुस्तक क्रान्तिकारियों के लिये अत्यन्त लाभदायक प्रतीत होती है और सम्भवतः इसे सी दृष्टिकोण से (अर्थात् षड़यंत्र के दृष्टिकोण से) तैयार किया गया है। उक्त अनुवाद के अध्ययन के पश्चात् न्यायाधीश महोदय ने कहा कि यह पुस्तक सम्राट के लिये भी इतनी ी हितकारी है।

भारत भूमि और इसके निवासी (१९३१)

'भारतीय इतिहास के भौगोलिक आधार' की दिशा में ही

श्री विद्यालंकार जी का यह दूसरा ठोस कदम है। डॉ० मोती चन्द्र ने आप के श्लाघ्य प्रयत्न की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"······and among them (Tracers of Indian historical Geography) foremost stands the name of Prof. Jaya Chandra Vidyalankar. His researches are embodied in an interesting book in Hindi entitled 'Bharat Bhumi aur uske Nivasi' (India & her peoples) in which he has focussed brilliantly the problems of Indian historical Geography. It will not be an exaggeration to say that we have yet to see a book of this type in other Indian Languages or as matter of fact even in Europeon Languages."

अर्थात् उनमें (भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार लिखने वालों में) श्री प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार जी अग्रणी हैं। आपका अनुसन्धान 'भारत भूमि और उसके निवासी' शीर्षक पुस्तक के अन्तर्गत निहित है। इस कृति में आपने भारत के ऐतिहासिक भूगोल सम्बन्धी समस्याओं पर विशद प्रकाश डाला है।

'भारत भूमि और उसके निवासी' पुस्तक लेखक के विस्तृत ज्ञान और अध्ययनशील प्रकृति का परिचय देती है। प्रसाद गुण से ओत-प्रोत इसकी शैली मानो इस बात का सबूत है कि लेखक जो कुछ भी लिख रहा है वह अपनी आत्मा की चिर-पिपासा की शान्ति के लिए ही लिख रहा है। इस पुस्तक में मूलतः आपकी अनुसन्धान प्रकृति मुखरित हो उठी है। इस सम्बन्ध में निम्न विचारकों की सम्मतियाँ द्रष्टव्य हैं:—

ओस्लो (नार्वे) के डॉ० स्टेन कोनो लिखते हैं—"···प्रतीकावलोकन के लिये (भारत भूमि और उसके निवासी) एक सुलभ ग्रन्थ के रूप में अत्यन्त उपयोगी

है।---------मुझ पर (इसके अध्ययन का) प्रथम प्रभाव यह हुआ कि आप ऋषिक और आर्षी असिओई असियानोई के बीच सम्बन्ध पाने म सही हैं------।"

फ्रांस के स्वर्गीय प्रो० सिल्व्यां लेवी ने जनवरी-मार्च १६३३ के ज्यरनाल आज़ियतीक में इस ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए लिखा था———
"श्री सीग जिस आर्षी शब्द में प्राचीनों (यूनानी लातीनी वाङ्मय) के असियोई को पहचानते हैं, एक भारतीय विद्वान् श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने उसी शब्द में प्राचीन भारतीय वाङ्मय में वर्णित ऋषिकों की जाति को पहचाना है। ऋषिकों से उन्होंने यूचियों को पहचाना है, ये वही भारतीय शक हैं जिनसे श्री सीग और सीगलिंग आर्षी बोली का सम्बन्ध बताते हैं। यह ऐसी सूचना है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।"

उक्त पुस्तक की प्रस्तावना में राय बहादुर डॉ० हीरालाल जी ने इस पुस्तक को लेखक की नई सूझ का मीठा फल बताया था जिसके द्वारा उन्होंने भारतीय भूगोल को शास्त्र का जामा पहनाया है। इसीलिए उनका विश्वास था कि यह ग्रन्थ अनेक लोगों की आँखें खोलने में पूर्ण सफल होगा।

डॉ० हीरा नन्द शास्त्री ने उक्त पुस्तक को गुदड़ी के लाल वाली बात कहते हुए अपनी श्रद्धांजलि पेश की थी।

भारतीय इतिहास की रूपरेखा (१९३३)

इस पुस्तक के अन्तर्गत विद्वान लेखक ने वैदिक काल से गुप्तवंश तक के भारत का राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत किया है। आपने अन्य विद्वानों के अनुसन्धान से पूरा-पूरा लाभ उठाया और इसमें अपनी बहुमूल्य खोजों को समाविष्ट करके पुस्तक को अमूल्य

रत्न का रूप प्रदान किया। आपने तर्कपूर्ण शैली का आश्रय लेते हुए नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया है और उन्हें न्यायसंगत ठहराया है। इसी श्रम ने पुस्तक को अनुपम तथा अद्वितीय बना दिया है।

सम्मेलन ने इस पुस्तक पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक देकर लेखक के श्रम को उचित मान्यता प्रदान की।

रघुवंश में वर्णित रघु-दिग्विजय का भूगोल (१९३०)
और (अंग्रेज़ी)
नकुल का पश्चिम दिग्विजय (१९३४)
(हिन्दी)

ज़मानों की उथल-पुथल तथा विद्या के ह्रास ने भारतीय जन समाज की आँखों पर गहन अंधकार का इतना काला परदा डाला कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में उन्हें अपना समग्र साहित्य और समस्त पैतृक दाय एकदम असत्य और पूर्णतः कपोल-कल्पित जान पड़ी। इसका प्रमुख कारण रहा कि अनेक परिवर्तनों और भीषण उथल-पुथल के फलस्वरूप जन-धन, नगर-ग्राम का केवल ह्रास ही नहीं हुआ प्रत्युत अनेक स्थानों का नाम ही मिट गया और ध्वंसावशेष खंडहरों पर नव-निर्मित नगर-ग्रामों ने अपनी मूल संज्ञा ही बदल ली। ऐसी स्थिति में जातीय साहित्य का पुनरुद्धार प्राचीन साहित्य में वर्णित नामों का नवीन नामों के साथ-साथ सम्बन्ध स्थापित करने का काम निःसन्देह टेढ़ी खीर था। यह काम पाश्चात्य विद्वानों के बल बूते से सर्वथा बाहर का था और वे इसे 'अविश्वस्त सामग्री' कह कर ही चुप साध गए। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ अनेक भारतीय विद्वानों की भी ऐसी ही स्थिति रही।

श्री विद्यालंकार जी ने प्राचीन की गहन गुफाओं में प्रवेश किया और अपनी बुद्धि के अजस्र प्रकाश पुंज से उन गुफाओं को केवल अपने लिए

ही नहीं चमकाया प्रत्युत जन साधारण की दृष्टि तक के लिये उसके ओझल भाग पर पूर्ण प्रकाश डाला। भंडारकर ओरियंटल इंस्टीच्यूट पूना के डायरैक्टर डॉ० सुख्यंकर इस पुस्तक के अध्ययन के पश्चात् लेखक के महान श्रम की श्लाघा किए बिना न रह सके। आपने विद्वान लेखक की व्याख्याओं और उसके द्वारा स्थापित किए गए सम्बन्ध को 'convincing, और 'valuable' ही पाया।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। 'नकुल का पश्चिम दिग्विजय' पुस्तक में आपने महाभारत में वर्णित नकुल के दिग्विजय का रास्ता टटोला। महाभारत में उल्लिखित 'बहुधान्यक' प्रदेश को आपने आजकल का रोहतक बताय था। इसकी पुष्टि बाद में हुई, अर्थात् दो वर्ष पश्चात् डॉ० बीरबल ने रोहतक की खुदाई करवाई और उन्हें उस खुदाई से पुरानी टकसाल के हज़ारों सांचे उपलब्ध हुए जिन पर उस समय की लिपि में 'यौधेयानां बहुधान्यके' लिखा हुआ है। डॉ० बीरबल द्वारा प्रस्तुत की गई "Technique of coin casting in Ancient India" में इस बात का उल्लेख किया गया है।

इस अनुसन्धान को अकस्मात् दैवसंयोग कहना एकदम भूल है और लेखक के महान् श्रम के साथ सरासर अन्याय। यह तथा इसी प्रकार के अन्य उदाहरण अनुसन्धानक की दिव्य दृष्टि के प्रमाण हैं, जिनके सहारे वे गहन गर्तों को टटोलते हुए बहुमूल्य तथ्यों के उद्घाटन में सफल हो सके हैं।

'इतिहास प्रवेश' (१९४०) पर विशद विवेचन करने से पूर्व हम उन की दिव्य लेखनी से प्रसूत उनकी नवीनतम कृति 'भारतीय इतिहास की मीमांसा' पर विचार प्रस्तुत करेंगे।

भारतीय इतिहास की मीमांसा

अंग्रेज़ ऐतिहासिक वी० ए० स्मिथ की धारणा थी कि भारत के राजनैतिक इतिहास में यूरोप के इतिहास जैसी विकास-प्रक्रिया का अभाव है। यहाँ निरंकुश राजाओं के विभिन्न स्वभावों या झोंकों के अनुसार इतिहास की धारा विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होती रही। इसलिए भारतीय इतिहास की घटनाओं को किसी क्रमिक लड़ी में रखना प्रायः असंभव जान पड़ता है।

श्री वी० ए० स्मिथ की उक्त धारणा सर्वथा निर्मूल थी। इस विषय पर अर्थात भारतीय इतिहास में विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डालने के लिये पटना यूनिवर्सिटी के संचालकों ने १९४१ में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार जी को निमन्त्रित किया। आपने इतिहास के व्याख्या संबन्धी प्रश्नों को उठाया और अपने भाषणों में उनका तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत किया। इस व्याख्यान सम्मुच्चय का शीर्षक था——"भारतीय राष्ट्र का विकास ह्रास और पुनरुत्थान"। इसी पाण्डु लिपि को 'भारतीय इतिहास की मीमांसा' के नाम से १९५४ में प्रकाशित किया गया। चूंकि यह मूल लिपि १९४१ में तैयार की गई थी, अतः लेखक ने बाद के १३ वर्षों के इतिहास को नवीन परिशिष्टों के रूप में देकर उसे पूर्णता प्रदान की।

श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार का नाम सुनते ही जिस विशद दृष्टि, सुलझी विचारधारा, तल स्पर्शी चिन्तन, ओजस्वी भाषा और सजीव शैली का चित्र आपकी आँखों के सामने आ जाता है, उन सबसे इस ग्रन्थ को आप सराबोर पाएँगे। भारतीय इतिहास और उनकी आधुनिक खोज की जैसी गहरी समीक्षा और मौलिक खोज इस ग्रन्थ में है वैसी और कहीं मुश्किल से ही मिलेगी।

इतिहास-प्रवेश
(भारतीय इतिहास का उन्मीलन)

'इतिहास प्रवेश' श्री विद्यालंकार जी का प्रमुख कीर्ति-स्तंभ है।

१९५७ में प्रकाशित इस पुस्तक के वृहत पंचम संस्करण में १००० से ऊपर पृष्ठ, २०७ चित्र और ३४ नक्शे है१ । इसमें भारत के भूगर्भ विकास से लेकर १९५७ तक की कहानी अत्यन्त विशद, रोचक और आकर्षक शैली में लि ी गई है ।

यह ग्रन्थ सर्वप्रथम १९३८-४० में 'इतिहास प्रवेश' अथवा 'भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन' नाम से दो भागों में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद के संस्करणों में अनेक प्रकार के संशोधन और परिवर्धन किए गए जिससे उक्त पुस्तक इतिहास का केवल दिग्दर्शन मात्र नहीं रही । इसीलिए विद्वान लेखक ने इसे 'भारतीय इतिहास का उन्मीलन' नाम देना उचित समझा । उन्मीलन शब्द की व्याख्या और पुस्तक के परिवर्तित नाम की सार्थकता को लखक ने इस प्रकार सिद्ध किया है--

> "हमारी प्राचीन चित्र-कला में किसी चित्र की पहली मुख्य रेखाएँ खींचने की परिभाषा थी--उन्मीलन, क्योंकि उन रेखाओं द्वारा चित्र का स्वरूप खुल जाता है । कालिदास की उक्ति है-- उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम् --मानो तूलिका द्वारा चित्र खोल दिया गया हो। मुगल चित्र-कला में इसे 'खुलाई करना' कहते थे जो कि उन्मीलन का ठीक अनुवाद है। सो यह ग्रन्थ अब 'भारतीय इतिहास का उन्मीलन' है । और अपने इतिहास के इस उन्मीलन द्वारा भारत सन्तान की आँखों का भी उन्मीलन होता रहे"।१

भारतीय सन्तान के नेत्रों के उन्मीलन की दिशा में श्रीयुत विद्यालंकार ने निःसन्देह ठोस कार्य सम्पन्न किया है। श्रीयुत कल्हण लगभग (११४८ ई०) का कहना है--

---

१. श्री जयचन्द्र विद्यालंकार -- भारतीय इतिहास का उन्मीलन, प्रस्तावना (छ)-(ज)

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नतुं प्रत्यक्षतांक्षमः ।
कवि प्रजापतींस्त्यकत्वा रम्यनिर्माणशालिनः ।।

(रम्य निर्माण करने वाले प्रजापति (ब्रह्मा) कवि के अतिरिक्त बीते समय को प्रत्यक्ष बना कर दिखाने की क्षमता अन्य किसी में नहीं है।)

गहन निरीक्षण-शक्ति सम्पन्न श्री विद्यालंकार जी ने अपन कठोर परिश्रम से हमारे अतीत को--ऐसे अतीत को जो आंधी और तूफानों की बेशुमार मिट्टी के नीचे दब चुका था, जिसके अस्पष्ट चिन्ह ही उसकी धूमिल गाथा कहते थे--मुखरित किया, उसे सजीव और प्रत्यक्ष बनाया। इसी एक कृति (भारतीय इतिहास का उन्मीलन) के आधार पर आपको वीणा-वादिनी के मन्दिर का अमर पुजारी-कवि, युग द्रष्टा, अथवा अतीत को मुखरित करने वाला कवि (साहित्यकार) कहा जा सकता है।

अंग्रेज़ इतिहास लेखकों के विकृत दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास की छीछालेदर होती हुई देख अनेक भारतीय विद्वान उदाहरणार्थ श्री हर-प्रसाद शास्त्री, श्री रानाडे, श्रीयुत ओझा जी, श्री यदुनाथ सरकार आदि शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास की 'बिल्कुल दूसरी' ही तस्वीर लेकर मैदान में अवतरित हुए। इन्हीं विद्वानों में श्री विद्यालंकार जी का प्रमुख स्थान है। आपका दृष्टिकोण सर्वथा भारतीय रहा परन्तु 'इस अर्थ में नहीं कि (आपने) हमारे अतीत की किन्हीं लज्जास्पद घटनाओं को छिपाने या लज्जास्पद चरित्रों पर सफेदी पोतने का प्रयत्न किया हो। भारतीय प्राच्य सम्मेलन के छठे अधिवेशन (पटना १९३०) के सभापति डॉ० हीरा लाल ने कहा था--"इस बेला, विशेष कर एक बड़ी आवश्य-कता उत्कट रूप से अनुभव होती है और वह है भारतीय दृष्टि से लिखे

हुए इतिहास की।" १९३८-४० में विद्यालंकार जी के 'इतिहास प्रवेश' ने इसी अभाव की पूर्ति की। इस ग्रन्थ की आलोचना करते हुए डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने कहा था १—"भारतीय दृष्टि से इतिहास कहने का अर्थ अथ से इति तक शुद्ध विज्ञान और सत्य को प्रकाश में लाना और वर्ग विशेष (या जाति विशेष) की उत्कृष्टता के विचार की गुलामी से मुक्ति दिलाना ही था और कुछ नहीं।—यह वास्तव में भारत का वैज्ञानिक इतिहास है, जो केवल भारत और भारतीयों के दृष्टिकोण से लिखा गया है, (और यह भी कह दें कि भारतीय इतिहास का मनुष्य मात्र से जो सम्बन्ध रहा उसके दृष्टिकोण से भी) जिसमें इस या उस समूह विशेष का गौरव नहीं गाया गया है, न 'आर्यों' का, न 'मुसलमानों' का और न सफेद चमड़ी वालों का, जो समझते हैं कि इतिहास में उनका स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है————।"सारांश यह है 'भारतीय इतिहास का उन्मीलन' ने एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की और प्राचीन भारत का एक सही और सच्चा चित्र प्रस्तुत किया, फिर भी इसकी अन्य मौलिक विशेषताओं पर दृष्टिपात करना असंगत न होगा।

युग-विभाग

श्री चैटर्जी लिखते हैं—"श्रीयुत विद्यालंकार की दृष्टि में भारत का इतिहास प्रागैतिहासिक काल से आज तक अविच्छिन्न रूप से सतत बहती रहने वाली एक धारा है, और यह ठीक ही है। वे इसे 'हिंदू-युग', 'मुसलमान-युग' और 'ब्रिटिश-युग' के तंग कटघरों में नहीं बाँटते। उन्होंने भारतीय इतिहास के मौलिक आधार पर, जिन मूल भारतवासियों के सम्मिश्रण से आज की भारतीय जनता बनी है, उन जातियों को अपनी-अपनी देन पर, उसके साथ ही ऐतिहासिक खोज के आधार तथा तरीकों पर विचार किया है।"२

इस सम्बन्ध में लेखक का अपना कथन है कि "अंग्रजों ने हमारे

---

१. सुनीति कुमार चैटर्जी—(१९४१) कलकत्ता रिव्यू, फरवरी १९४१
२. जयचन्द्र विद्यालंकार, भारतीय इतिहास का उन्मीलन, प्रस्तावना

राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में काल का फिरकेवार बँटवारा चलाया। उदाहरण के लिए कैम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री में वैदिक युग से विजय नगर के पतन तक "हिन्दू काल" की कहानी पहले दी गई। फिर आठ शताब्दियाँ पीछे लौट कर भारत में इस्लाम प्रवेश की बात से "मुस्लिम काल" की कहानी आरम्भ की गई जो १८५७ में बहादुर शाह दूसरे के पतन के साथ समाप्त होती है। फिर चार शताब्दी पीछे लौट कर पुर्तगालियों के भारत आने के वृत्तान्त से "ब्रितानवी काल" आरम्भ किया गया है। इस विभाजन की बेहूदगी मैंने सन् १९३६ में अपने नागपुर अभिभाषण में दिखाई थी।

"सातवीं शताब्दी के मध्य से इस्लाम भारत की सीमाओं पर टकराने लगता है और आठवीं के शुरू में सिन्ध में स्थापित हो जाता है। इन घटनाओं की उपेक्षा करके क्या प्रतिहार और राष्ट्रकूट साम्राज्यों और उस युग के अन्य हिन्दू राज्यों का ठीक चित्र अंकित किया जा सकता है। या उनके प्रशासकों की मनःस्थिति की ठीक व्याख्या की जा सकती है?—

"किसी भी युग की समूची परिस्थिति में से एक अंश को साम्प्रदायिक कारण से अलग काट रख कर जो चित्र खींचा जाएगा, उसकी पृष्ठभूमि ग़लत होने से वह मूलतः ग़लत होगा। भारतवर्ष के इतिहास को यों मज़हबी ढांचें पर चढ़ाना, जीवित प्राणी को काठ के शिकंजे में कसना है।"

इस ग्रन्थ के अध्ययन तथा मनन से प्रतीत होगा कि विद्यालंकार जी के युग-विभाग में स्वाभाविकता स्पष्ट रूप से विद्यमान है। इस युग-विभाग से प्रभावित होकर विद्वद्वर रायकृष्णदास जी का कहना था कि यह युग-विभाग भारत की सांस्कृतिक परिणति की मंजिलें वैसी ही स्पष्ट दिखाता है जैसी राजनीतिक की। इस युग-विभाग के अनुसार आपने समूचे इतिहास को ११ पर्वों में (१.—भूमिका पर्व २.—आरम्भिक आर्य पर्व ३.—महाजनपद पर्व ४.—नन्द मौर्य साम्राज्य पर्व ५.—सातवाहन पर्व ६.—वाकाटक—गुप्त पर्व ७.—कन्नौज-साम्राज्य पर्व ८.—सल्तनत पर्व ९.—मुगल-मराठा पर्व १०.—

अंग्रेजी राज पर्व ११.–अभिनव भारत पर्व) और पर्वों को विभिन्न अध्यायों में (उदाहरणार्थ सल्तनत पर्व को आपने निम्न अध्यायों में विभक्त किया है—१.–दिल्ली और लखनौती में तुर्क राज्य की स्थापना (परिशिष्ट-पृथ्वी-राज रासो और तुर्कों के बंगाल विजय विषयक प्रचलित भ्रम १.–पृथ्वीराज रासो २.–तुर्कों के बंगाल विजय की कहानी) २.–गुलाम-मंग–पाण्ड्य ३.–मंगोलों का विश्व साम्राज्य और परला हिन्द ४.–सल्तनत का चरम उत्कर्ष ५.–दिल्ली राज्य का ह्रास और प्रादेशिक राज्यों का उदय ६.–पन्द्रवीं शताब्दी के प्रादेशिक राज्य (परिशिष्ट शर्की-उडीसा-युद्ध) ७.–उपनिवेशों और स्वतंत्र विदेश सम्बन्धों का अन्त ८.–पिछले मध्यकाल का भारतीय जीवन) विभक्त किया है। इस विभाजन से स्पष्ट है कि लेखक की सच्चे वैज्ञानिक की-सी विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक प्रतिभा ने एक काल की घटनाओं को अनूठ ढंग से एक ही लड़ी में पिरो कर रख दिया है जिस से समग्र घटना-चक्र की पृष्ठभूमि में देश और समाज की सांस्कृतिक और राजनैतिक स्थिनि को समझना सुलभ हो गया है।

काल-विभाजन का नवीन दृष्टि-कोण सर्वथा स्वस्थ और मूलत: मौलिक है पर लेखक की सामासिक पद्धति के कारण कुछ एक स्थल पहले पहल भ्रामक से प्रतीत होंगे, विशेष कर उन लोगों के लिये जो अंग्रेज़ी ढर्रे पर लिखित इतिहास का अध्ययन करते आए हैं। उदाहरणार्थ "सातवाहन चेदि-यवन-शुंग" और "गुलाम-गंग-पाण्ड्य" तथा "यौधेय-नाग-वाकटाक" आदि शीर्षक पाणिनि जी के सूत्रों की याद दिलाते हैं और विभिन्न वंशों को एक ही समास में पिरोया हुआ देख कर साधारण पाठक पहले पहल चौंक उठता है।

विषय.—चूंकि पुस्तक का निर्माण शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से हुआ है अत: लेखक ने प्रत्येक काल की समूची सामग्री का सामंजस्य किया और उसी सामंजस्य की पृष्ठभूमि में वे प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक घटना

को क्रमवार लिपिबद्ध करते चले गए। साम्प्रदायिक दृष्टि-ग्रस्त इतिहास-लेखक ऐसा करने में असमर्थ थे। "सलतनत युग चूंकि उनकी दृष्टि में मुसलिम युग है, इसलिए इसका इतिहास व मुसलिम तवारीखों के आधार पर उनकी यथष्ट जांच किए बिना ही बनाते रहे।"[१] इन लोगों के चित्र कितने मार्मिक रहे इसका आभास 'भारतीय इतिहास का उन्मीलन' ग्रन्थ के 'महमूद गज़नवी का चरित अथवा परिशिष्ट ६ अंश २' के अध्ययन के पश्चात् लगगा। इसी प्रकार की भूल का विशेष ज्ञान उक्त पुस्तक के ७वें पर्व तृतीय अध्याय और सलतनत पर्व और अन्य इतिहास पुस्तकों के तत्कालीन अध्यायों के तुलनात्मक अध्ययन से हो सकेगा। और देखिए शम्सुद्दीन इलियशाह की नेपाल चढ़ाई का उल्लेख किसी भी इतिहास पुस्तक में उपलब्ध नहीं। काठमंडू के पशुपति नाथ मन्दिर में शम्सुद्दीन के खुदवाए संस्कृत शिलालेख से उसका पता लगा। लेखक ने इस प्रकार की समस्त सामग्री का लाभ उठाते हुए अपने इतिहास को पूर्णता प्रदान की। आपके बहुमुखी गुणोंकी प्रशंसा करते हुए श्रीयुत चैटर्जी ने लिखा था—"इसे पढ़ते हुए दुलर्भ आनन्द का अनुभव होता है, जब पाठक लेखक की बहुज्ञता का, उसकी घटनाओं को एक क्रम से उपस्थित कर सकने की कुशलता का, तथा उस की सर्वग्राही उदारता का, जिसकी तह में उन लोगों के लिये, जिनके कार्यों और कारनामों की कथा वे लिखते हैं, बड़ी गहरी मानवी सहानुभूति की बहती हुई धारा (एक उथला राष्ट्रीय पक्षपात नहीं) का खयाल करता है।——हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये यह सामग्री अच्छी है कि (१) गज़नी का महमूद केवल एक बुत-शिकन (मूर्ति भंजक) नहीं था, जिसने कई बार भारत पर आक्रमण किए और हिन्दू मन्दिरों तथा मूर्तियों को नष्ट किया, बल्कि वह एक बुद्धिमान राज्य-प्रबन्धक तथा विद्या का संरक्षक भी था। संस्कृत-विज्ञ अलबरूनी उसी की संरक्षता में रहा। भारतीय प्रजा का खयाल कर उसने अपने चांदी के सिक्कों पर कलमे का संस्कृत अनुवाद खुदवाया था।

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार, भारतीय इतिहास का उन्मीलन, प्रस्तावन

(२) महमूद ग़ौरी के सिक्कों पर हिन्दू देवी लक्ष्मी की मूर्ति बराबर बनी रही और उसका नाम (श्रीमत मीर महमद साम) भी भारतीय अक्षरों में खुदवाया था। (३) दो मराठ राज्य-प्रबन्धक हरि दामोदर जो (सन् १७६५ में झांसी के सूबेदार होकर मरा) और उनका पुत्र रघुनाथ हरि—जिसने उत्तर भारत में मराठा (हिन्दू) शासन के संगठित करने में प्रधान भाग लिया था। अंग्रेजों तथा दूसरे यूरोपियनों की विद्या तथा विज्ञान से प्रभावित हुए थे। रघुनाथ हरि (१७६५ से १७९४ तक) झांसी का गवर्नर था। भारत के लिए पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकता समझने में राम मोहन राय और आरम्भिक १९वीं शताब्दी के विचार नेताओं से भी मिला था। उसने स्वयं अंग्रेज़ी सीखी——विज्ञान के विषय पढ़ कर प्रयोगशाला भी स्थापित की। 'रघुनाथ हरि' सच मुच भारत का एक महान पुत्र था, जिस के नाम से हम अपरिचित रहे।" १

वृहत्तर भारत और भारत के विदेश सम्बन्ध

अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों की धारणा थी कि भारतवर्ष सदैव से अपन "जगमगाते एकाकीपन" (Splendid Isolation) में लीन रहा है और अपने इस अन्धविश्वास से प्रेरित होकर तथा यूरोपीय न वंश की महानता की स्थापना के उद्देश्य से उन्होंने इस तथ्य का खूब बखान भी किया। भारतीय इतिहास-लेखकों की श्रम-साध्य खोजों ने इसके ठीक विपरीत तथ्यों का उद्घाटन किया। भारत के प्रस्तुत इतिहास में वृहत्तर भारत और भारत के विदेश सम्बन्ध की लम्बी दास्तान समाविष्ट है। इस के साथ-साथ इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने विश्व साहित्य अथवा विदेशों के इतिहास के उस अंश को भी स्पष्ट और समाविष्ट करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है जिसने भारतीय जन-जीवन और राष्ट्र के इतिहास को समय-समय पर प्रभावित किया है।

---

१. चैटर्जी—कलकत्ता रिव्यू

चित्र-सामग्री.—'भारतीय इतिहास का उन्मीलन' में अनेक महत्व-पूर्ण और दुर्लभ चित्रों को प्रथम बार प्रकाशित किया गया है । वस्तुतः ऐतिहासिक खण्डहरों की खोज-पड़ताल के पश्चात् जो सामग्री उपलब्ध हुई, उसी ने भारत के अतीत जीवन के बिखरे तारों को गूंथने में सहायता प्रदान की है। अतः वैज्ञानिक रीति-नीति से अभिज्ञ कोई भी लेखक इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वस्तुतः वैज्ञानिक रीति से इतिहास के पठन-पाठन में भी चित्र-सामग्री का विशिष्ट स्थान है । इसीलिए लेखक इनके प्रामाणिक प्रकाशन को ओर भी उतना ही सजग रहा है जितना वह उसकी मूल सामग्री की प्रामाणिकता की ओर। श्रीयुत चैटर्जी लिखते हैं—"प्रशंसा के दो शब्द चित्रों के ध्यानपूर्वक चुनाव के बारे में कहने ही होंगे। इन चित्रों में जातियों के नमूने, पुरानी इमारतों और व्यक्तियों की तस्वीरें, सिक्के, अभिलेख, मानचित्र तथा खाके शामिल ह। वे इतिहास पर एक चित्रमय भाष्य हैं और एक महान देश की महान सभ्यता का इतिहास चित्रों द्वारा प्रकट करते हैं।" १

उपसंहार.—प्रस्तुत ग्रन्थ-विवेचन को हम श्रीयुत चैटर्जी के निम्न शब्दों के साथ समाप्त करते हैं— "श्रीयुत विद्यालंकार जी ने——— अपने इस ग्रन्थ में दिखाया है कि विशाल दृष्टि के साथ, उन्हें तफसील की वातों पर भी पूरा अधिकार है। विस्तृत दृष्टि के साथ पैनी नजर है—— न तो एक-एक चीज़ की उलझन में उनका सामूहिक महत्व ही दृष्टि से ओझल होता है और न ऊपरी दृष्टि से महत्वहीन ही प्रतीत होने वाली "छोटी-छोटी" बातों को ही वह आँख से ओझल होने देते हैं। एक सच्चे वैज्ञानिक की तरह वह विश्लेषण भी करते हैं, और समन्वय भी। वह जहाँ तोड़ना जानते हैं, वहीं जड़ाई करना भी।

"तो भी इस ग्रन्थ के रचयिता, अपनी वैज्ञानिक दृष्टि की विशेषता

---

१. **चैटर्जी—कलकत्ता रिव्यू**

को लिए हुए केवल एक शुष्क विश्लेषणकर्ता नही है। व एक ऐसे भारतीय हैं जो अपने देश को न केवल उसकी महानता के लिए बल्कि उसकी कमजोरियों के साथ भी प्रेम करते हैं। इसलिए उनकी रचना, उनकी व्यक्तिगत सहानुभूति के स्पर्श से सरस हो गई है—और अपनी वैज्ञानिक निर्लिप्तता के बावजूद भी वे उस साम्राज्यवादी पक्षपातपूर्ण दृष्टि तथा ढोंग से सर्वथा मुक्त हैं, जिसने दुर्भाग्य से भारत का इतिहास लिखने वाले अनेक ब्रिटिश इतिहासज्ञों की दृष्टि को धुंधला कर दिया है, और वे उस भारतोय इतिहास अथवा भारतीय परिस्थिति के ऐसे कुछ पहलुओं पर हमेशा अनुचित ज़ोर दिया करते हैं, जिसका भारत से कोई खास सम्बन्ध नहीं-ऐसा ज़ोर जो असली स्थान पर न होकर आकस्मिक घटानाओं पर दिया जाता है।-----इस ग्रन्थ के प्रकाशन के वर्ष तक का इतिहास है और पिछले दिनों में जब कि राजनीतिक, जातिगत तथा साम्प्रदायिक झगड़ों और उलझनों के कारण मनुष्य जाति के एक-पाँचवे हिस्से में वहुत गोलमाल रहा है, श्रीयुत विद्यालंकार उस समय का भी विस्तृत और उद्वेग रहित इतिहास देने में सफल हुए हैं।" १

इतिहासोन्मीलन में योगदान—उपरि-विवेचन विद्यालंकार जी के योगदान पर पर्याप्त प्रकाश डालता है, फिर भी उनकी सेवाओं पर समग्ररूप से दृष्टिपात की आवश्यकता महसूस होती है। श्री कल्हण (लगभग ११४९) का कथन है—

> वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः।
> येना याति यशः कायः स्थैर्यं स्वस्य परस्य च ॥

(सुधा के स्राव को मात करने वाला क्रान्तदर्शी कवि का वह कोई गण (कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः—अतीत काल को प्रत्यक्ष के

---

१. चैटर्जी—कलकत्ता रिव्यू (उपरि-निर्दिष्ट)

समान दिखाने की क्षमता) वन्दनीय है जिससे उसका अपना और अन्य व्यक्ति-व्यक्तियों का यश चिर स्थायी हो जाता है।)

हमारे विद्यालंकार जी उन्हीं क्रान्तदर्शी कवियों के अग्रणी हैं जिनमें अतीत को—बिल्कुल धुंधले अतीत को और उस अतीत को जिसे प्रच्छन्न करने के लिये विदेशी राज्यसत्ता ने अपने शासन की मदान्धता का काला पर्दा चिरकाल तक डाले रखा—प्रत्यक्ष के समान जीता-जागता बना कर दिखाने की भरपूर क्षमता विद्यमान है।

भारतीय लोग अपने वास्तविक इतिहास को भूल चुके थे। अंग्रेज इतिहासकारों ने इसके नव-निर्माण का काम अपने हाथ में लिया परन्तु प्रभुत्व के मद ने उनके दृष्टिकोण को विकृत कर दिया था। निष्पक्ष इतिहास-रचना की बात तो दूर ही रही, उन्होंने विभिन्न साहित्यिक पुस्तकों और ऐतिहासिक पुस्तकों के अनुवाद तक को भी दूषित कर डाला। इन सबके पीछे स्वार्थ की वासना काम कर रही थी। दूसरी ओर, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पूर्ववर्ती मुसलमान इतिहास-लेखकों के रिकार्ड भी इसी पक्षपात की दूषित भावना से ग्रस्त थे। अंग्रेजों के द्वारा भारतीय इतिहास की छीछालेदर होती देख अनेक महानुभाव आगे बढ़े—कुछ हिन्दुत्व के प्रेम से प्रेरित हो कर और अन्य—कुछ शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण लेकर। वीर सावरकर ने हिन्दु-पद-पादशाही लिखने से पूर्व स्वयं तसलीम किया—"इतिहासकार का यह कर्तव्य है कि वह अपने पात्रों की आकांक्षाओं, भावनाओं और कारनामों का यथारूप चित्रण करे।"१ परन्तु फिर भी उन्होंने इस पुस्तक को भारतीय दृष्टिकोण से नहीं प्रत्युत "हिन्दू दृष्टिकोण"२ से ही लिखा है। ऐसी स्थिति में अंग्रेज आकाओं द्वारा निर्मित फिरकेदारी के तंग कटघरे से

---

१. सावरकर —हिन्दू पद-पादशाही, पृ० ४

२. "———इस आंदोलन के सम्पूर्ण इतिहास का हिन्दू दृष्टिकोण से दिग्दर्शन कराना है।"———सावरकर, हिन्दू पद-पादशाही (दो शब्द)

ऊपर उठ कर लिखना सच्चे भारतीय का ही कर्तव्य था। विद्यालंकार जी नें सच्चे भारतीय के नाते हिन्दू-मूसलिम संस्कृति का समन्वित रूप (सच्ची भारतीय संस्कृति) हमारे सन्मुख पेश किया। इसके पर्याप्त उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। सर्वथा मौलिक खोजों के ग्राधार पर इतिहास का निमार्ण बहुत पहले हो चुका था, परन्तु विदेशी राज्यसत्ता ने उसे मान्यता प्रदान न की, ग्रतः वह ग्राज तक हमारी ग्राँखों से ग्रोझल रहा। ग्राज, जबकि हम स्वतंत्र हैं, हमें ग्रपने ग्रतीत के सच्चे ज्ञान के लिए ऐसे इतिहासों का ग्रध्ययन करना चाहिए। ग्रापकी पुस्तकें निःसन्देह हमारे नेत्रोन्मीलन कर हमें सच्चे रास्ते पर चलना सिखाएँगी ग्रौर फिरकेदारी के बीज जो ग्राज तक हमारा पीछा कर रहे हैं, समूल नष्ट हो जाएंगे।

विद्यालंकार जी की सबसे बड़ी दूसरी महानता है कि ग्रापने जो कुछ भी लिखा वह सर्वथा निष्काम भाव से लिखा। इस कथन की पुष्टि में इससे बढ़ कर ग्रौर कौन सा सबूत हो सकता है कि ग्राज से ४० वर्ष पूर्व, जबकि हिन्दी ग्रपनी बाल्यावस्था में ही थी ग्रौर ग्रधिकांश लोगों की रुचि इस ग्रोर न थी, ग्रापने हिन्दी में लिखना ग्रारम्भ किया। यदि इसी प्रकार की खोजपूर्ण ग्रौर वैज्ञानिक ढंग की पुस्तकें ग्रंग्रेज़ी भाषा में लिखी गई होतीं तो ग्राज विद्यालंकार जी का नाम सातवें ग्रासमान पर होता। "चढ़त सूर्य को सभी नमस्कार करते हैं", पर विद्यालंकार जी ने सूर्य की ग्रनुपस्थिति में भी उसे प्रणाम किया। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं, परन्तु होते हैं वही जिन्हें ग्रपने मान की परवाह न हो बल्कि हो उन्हें सूर्य से वास्तविक प्रेम। ग्रापके हृदय में हिन्दी के प्रति सच्चा प्रेम था, ग्रौर उसी प्रेम की रज्जु का सहारा लेकर ग्रापने मातृभाषा—राष्ट्र भाषा हिन्दी—के भंडार को बहुमूल्य रत्नों से पुर किया है। इतना ही नहीं प्रत्युत ग्रापके सदुद्योग द्वारा हिन्दी भाषा इतिहास-विज्ञान-क्षेत्र के उपयुक्त भाषा बन सकी है। यह कोई कम योगदान नहीं है। डॉ० सुनीति कुमार चैटर्जी ने ग्रपनी ग्रालोचना के ग्रन्त में ठीक ही कहा था—"Works like the

present one are really helping to establish Hindi as a speech of science and culture".

(इस तरह की कृतियाँ हिन्दी को विज्ञान और कृष्टि की भाषा के रूप में स्थापित करने में सहायता दे रही हैं।) और लेखक की भाषा-शैली के सम्बन्ध में कहा है—

"His Hindi is one of the best I have read in a modern writer—he writes beautiful Hindi Prose, terse, vigorous, to the point and withal picturesque".

(उनकी हिन्दी आधुनिक हिन्दी के श्रेष्ठ नमूनों में से है——————
वे सुन्दर हिन्दी गद्य लिखते हैं, संक्षिप्त, सारगर्भित, ज़ोरदार, ठिकाने का और तिस पर भी रंगीन।)

संक्षेप में गेटे (Goethe) द्वारा निर्धारित इतिहासकार के कर्त्तव्य१ को सच्चे न्यायाध्यक्ष के समान राग-द्वेष-रहित वाणी से आप ही पूरा कर सके हैं। अतः आप धन्य हैं, श्लाघ्य हैं और कल्हण के निम्न श्लाघ्य-स्वरों के साथ हम भी अपना स्वर मिलाते हैं:—

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥

——o——

१. The historian's duty is to separate the true from the false, the certain from the uncertain and the doubtful from that which cannot be separated. Every ivestigator must before all things look upon himself as one who is summoned to serve on jury. He has only to consider how far the statement of the case is complete and clearly set forth by the evidence. Then he draws his conclusion and gives his vote whether it be that his opinion coincides with that of the former or not. The maxims and reflections of Goethe Nos. 453 and 543.

भारतीय कृष्टि का "क" "ख"

आलोचनात्मक परिचय

'भारतीय कृष्टि का "क" "ख" शीर्षक पुस्तक पर विचार करने से पूर्व "कृष्टि" शब्द की विवेचना अपेक्षित है । विद्वान लेखक ने इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—१ "कोई मनुष्य समूह अपनी ऊंची-नीची, अच्छी-बुरी सहज मानव-प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर जो कुछ रचता है उसे हम कृष्टि कहते हैं। प्राचीन इतालिया की लातीनी भाषा में शायद इसी शब्द का रूपान्तर कुल्तुस (Cultus) था।————

"आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में कुल्तुस का रूपान्तर होकर कुल्तुर या कुल्तुरा शब्द बने हैं । अंग्रेज़ी में इसी का उच्चारण कल्चर (Culture) है। हिन्दी में इधर कुछ समय से संस्कृति शब्द बर्ता जा रहा है। पर कृष्टि या कुल्तुस में किसी जाति समूह की संस्कृति विकृति और साधारण कृति—अर्थात् अच्छी-बुरी और साधारण सब प्रकार की कृति—सम्मिलित हैं................सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय कृष्टि में दीक्षित लोग यूरोपियों से क्यों बराबर मार खाते रहे. .... पर "राजवाड़े" भारत के लोगों की उस शिक्षा-दीक्षा को जिससे उन्होंने यूरोपियों का सामना करने में बराबर पछाड़ खाई—कभी संस्कृति कहना पसन्द नहीं करते थे। उसे उन्होंने "हिन्दू-विकृति" और "इसलामी-विकृति" कह कर ही याद किया है।"२

१. इन पंक्तियों का लेखक इस व्याख्या से पूर्णतः सहमत नहीं क्योंकि 'संस्कार' शब्द किसी व्यक्ति के अच्छे या बुरे दोनों प्रकार के ही संस्कारों के लिये उपयुक्त शब्द है और किसी जाति के अच्छे या बुरे संस्कारों की समष्टि का नाम ही 'संस्कृति' है।

२. ज० च० विद्यालंकार—भारतीय कृष्टि का "क" "ख"

"————हमारे बंगाली साथी अपनी भाषा में इस अर्थ में पुराने वैदिक शब्द—कृष्टि का प्रयोग कर रहे हैं। मुझे भी वही उपयुक्त लगता है।"१

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'भारतीय कृष्टि का "क" "ख" भारती जीवन की "कृति" की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास है। वस्तुतः किसी भी जाति अथवा राष्ट्र का इतिहास उस जाति अथवा राष्ट्र की कृष्टि की पृष्ठभूमि में ही अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। इधर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सांस्कृतिक इतिहासों की ओर लोगों का ध्यान गया। प्रसिद्ध इतिहासकार सरदार पाणिक्कर ने लिखा है—"भारतीय इतिहास—राजनीतिक पहलू से गोलमाल भरा और सूखा है। इस दशा के कारण ढूंढने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। थोड़े अन्तरों को छोड़ कर भारत कभी टिकाऊ राजनीतिक एकता नहीं पा सका—राजनीति में भारत सदा बहुतेरे राज्यों और लड़ते राजवंशों का देश रहा है ——भारतीय समाज और सभ्यता की एकता के निकास का राजनीतिक घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहा———।"२ और इसलिए सरदार पाणिक्कर ने सुझाव प्रस्तुत किया है कि भारत का सांस्कृतिक पहलू से नये ढंग का इतिहास लिखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में इसका यह अर्थ हुआ कि हम लोग अपने राजनैतिक इतिहास से मुंह मोड़ कर सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा स्पष्ट करने चले हैं। कितनी अद्भुत पहेली है? क्या राजनैतिक उथल-पुथल और वातावरण को समझे बिना उससे पूर्णतः प्रभावित तत्कालीन संस्कृति का समझना संभव है? अथवा क्या ह्रासोन्मुख राष्ट्र के लोग स्वस्थ कृष्टि के निर्माता बन सकते हैं? इसी आधार पर टीका टिप्पणी करते हुए विद्यालंकार जी इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि "इस प्रकार की पलायन मनोवृत्ति से जं

प्रस्तावना

१. ज० च० विद्यालंकार—भारतीय कृष्टि का "क" "ख"

२. सरदार पाणिक्कर (अगस्त १९५५) Rewriting Indian History पूर्वी पंजाब की पत्रिका 'Advance' में लख।

"सांस्कृतिक" इतिहास प्रस्तुत किए जा रहे हैं उनका उथला अप्रमाणिक गोलमाल-भरा और गप्प भरा होना स्वाभाविक है ।"

विद्वान इतिहासकार विद्यालंकार जी ने सामयिक विद्वानों की नब्ज़ को पहचानते हुए 'भारतीय कृष्टि का "क" "ख" अर्थात् भारतीय "कृति" का यथार्थ रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे भातीय तरुण अपने स्वरूप को भली प्रकार पहचान सकें।

आपने भारतीय इतिहास-लेखन में जिस वैज्ञानिक तथा विवेचनात्मक प्रणाली का आश्रय लेते हुए निष्पक्ष दृष्टिकोण से यथार्थ तथ्यों का उद्‌घाटन किया है, आपकी वही प्रणाली भारतीय कृष्टि के इतिहास के चित्रण में भी अपना काम करती रही है । आपका दृष्टिकोण फिरकाबन्दी से बहुत ऊपर सर्वथा भारतीय और समन्वयात्मक रहा है। तथ्योद्‌घाटन के साथ-साथ आप ने प्रचलित विश्वासों की भी विवेचना की है और इसके अतिरिक्त आपने साधारण भारतीय पाठक का वातावरण जनित भ्रम निवारण भी किया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। १६ वीं शताब्दी के भारतीय आदर्शों का उल्लेख करते हुए आपने लिखा है—"कहा जाता है कि अकबर भारत में विदेशी था, पर उसने यहाँ की शिक्षा-दीक्षा को पूरी तरह अपना लिया। ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि मध्य एशिया और भारत मिल कर तब एक राज्य क्षेत्र और कृष्टि क्षेत्र था, अकबर ने अपने नीति आदर्शों को आज के भारत में आने से पहले ही अपना लिया हो यह संभव है और कि उसे विदेशी कहना कुछ ठीक नहीं है ।"१

---

१. इसके पश्चात आपने श्री राय कृष्ण दास जी के मत का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने अपनी मौलिक खोज द्वारा सिद्ध किया है कि १६वीं शताब्दी की ईरानी कला सीता कांठे की भारतीय कला से प्रभावित थी। इसलिए संभव है कि अकबर ने भी अपने राजनीतिक आदर्शों को भारत में आने से पूर्व ही ग्रहण कर लिया। भारतीय कृष्टि का "क" "ख" पृष्ठ २४१ ।

१६वीं शताब्दी का यह चित्र निःसन्देह भारतीय जनता पर सुन्दर तथा स्वस्थ प्रभाव छोड़ेगा और इसके द्वारा उनके असंख्य भ्रम, बालुका की भित्तियों की भाँति ढह जाएंगे। विद्यालंकार जी का यह ग्रन्थ—चाहे यह अपनी आरम्भिक स्थिति में रूप-रेखा मात्र ही है— एक जगमगाते हीरे के समान ज्योति की किरण बिखेर रहा है।

किसी भी समाज अथवा राष्ट्र का इतिहास अथवा उसकी कृष्टि का इतिहास उस समय तक अधूरा ही रहता है जब तक उस राष्ट्र के उन्नायकों अथवा साहित्य के निर्माताओं के जीवन पर आलोचनात्मक दृष्टिपात न किया जाए। किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की तत्कालीन परिस्थितियाँ ही प्रमुख राष्ट्र उन्नायकों और वाङ्मय के अमर-रत्नों को जन्म देती हैं अतः उनके जीवन के चित्रण से उस समाज की तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ भी प्रकाश में आती हैं और तत्कालीन इतिहास को बुनने के लिये अमूल्य सूत्रों का काम भी करती हैं। इस दृष्टिकोण से विद्यालंकार द्वारा लिखित 'भारतीय साहित्य के अमर रत्न' उनकी 'भारतीय-कृष्टि' की कहानी की भूमिका हीं समझनी चाहिए। यह कृति भारत और वृहत्तर भारत के वांमय का संक्षिप्त तो भी सर्वसंग्राहक और सारगर्भित तथा सजीव दिग्दर्शन है।

——०——

साहित्यकार जयचन्द्र विद्यालंकार

विश्व की महाप्राण जातियाँ अपने इतिहास की सर्जना दो विभिन्न रूपों में करती हैं—एक तो शारीरिक क्रिया-कलाप-जनित घटनाओं द्वारा और दूसरे मानसिक और बौद्धिक चिन्तन के क्रमिक विकास के परिणाम-स्वरूप लिपिबद्ध साहित्य द्वारा। कर्मों पर आधारित इतिहास की रचना अस्थायी एवं अस्थिर होती है, क्योंकि वह उन कर्मों के विलोप के साथ ही प्रायः विलुप्त हो जाती है। परन्तु साहित्य के रूप में मूर्तिमान इतिहास के अन्दर वे सनातन तत्त्व विद्यमान होते हैं जो तपानुतप एवं वर्षानुवर्ष उसे गतिमान रखते हैं। यद्यपि साहित्य में व्यक्तिगत अनुभूतियों, भावों, उद्गारों एवं उच्छ्वासों का अभिव्यजंन होता है, तथापि वे समाज और जाति की विशेषताओं से सम्पृक्त हुए बिना नहीं रह सकते ।

भारतीय वाङ्मय में आध्यात्मिक भावनाओं का प्राचुर्य रहा है। हमारे दार्शनिकों, विचारकों, साहित्यकारों और कलाकारों ने जीवन के भौतिक पक्ष पर अधिक विचार न देकर उसके आत्मिक पक्ष का ही प्रचुरतया चित्रण किया है। आत्मा की सम्पूर्णता ही भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य है। इसी आदर्श के अनुरूप हमारे देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन की रचना हुई । भारतीय जीवन का प्रत्येक क्षेत्र इसी भाव से ओत-प्रोत था। वेद, वेदांग, दर्शन, ललित कलाएँ और नीति-ग्रन्थ आदि इसी का ही परिपक्कव रूप हैं।

—— १ ——

आज के युग में, जब कि सर्वसाधारण भारतीय, विभिन्न संस्कृतियों और विचारधाराओं की भीड़ में कुछ विस्मृत-सा, कुछ दोलायमान-सा

दिखाई पड़ता है, अपने अतीत के गौरव के यशोगान, अपनी संस्कृति के किन्हीं उत्कृष्ट तत्त्वों और उपकरणों के उद्‌घाटन, और सदाचार एवं शिष्टाचार से सम्बद्ध विषयों को भारतीयों के समक्ष खोल कर प्रस्तुत करना भारत के भविष्य के लिये नितान्त आवश्यक है, ताकि प्रत्येक भारतीय अपने महामहिमशाली अतीत के गौरव से प्रेरणा ले सके। सुलझी हुई कुशाग्र-बुद्धि, विशाल अध्ययन, गम्भीर मनन एवं नितान्त चिन्तन, समन्वयकारी वृत्ति, सफल नीर क्षीर विवेचन और विचार परिपक्कता—ये गुण जिस विभति ने कमाए हों, वह ही, वस्तुतः सुदूर अतीत से धूलिधूसरित अमर रत्नों का गवेषण कर सकता है, उन्हें बटोर कर माला के रूप में तैयार कर सकता है। हमें हर्ष है कि विद्यालंकार जी के "भारतीय वाङमय के अमर रत्न" स्वयं इस सारे कथन की पुष्टि करते हैं। जो लेखक अपनी बातों को तर्क से छान कर प्रस्तुत करता है उसे विचारानुरागी समाज बड़े चाव से सुनता है।

इतिहास के जिन विषयों को लेकर विद्यालंकार जी अग्रसर हुए हैं, स तरह समग्र रूप में कभी भी नहीं लिखे गए।

ज्ञानवर्धकता, व्यवस्थितक्रम, एक निर्दिष्ट विषय, अनतिदीर्घ विस्तार और साहित्यिक रचना-शैली आपके लघु विषयों के अनिवार्य गुण हैं।

आपक द्वारा दिए मतों, सिद्धान्तों, तिथियों के बारे में मत-भेद हो सकता है, किन्तु इससे विचार-संहति पर कोई चोट नहीं पहुँचती। देखना तो यह है कि विचार-विन्यास कहाँ तक यक्तियुक्त है।

वैदिककालीन साहित्य से लेकर आपने सारे भारतीय साहित्य का क्रमबद्ध चित्र खेंच दिया है। भारत ने समय-समय पर अपनी चिन्तन-धारा में जो-जो परिवर्तन सन्निविष्ट किए उन सभी के ज्वलन्त उदाहरण हमें इस छोटी सी पुस्तक में मिल सकते हैं।

विद्यालंकार जी ने साथ-साथ यह भी बताया है कि किस तरह भारत

ने पुराण काल के प्रति विद्रोह किया और बौद्ध सिद्धान्तों को स्वीकार किया और उसके बाद दर्शन शास्त्रों की शृंखलाबद्ध उड़ानें भरीं।

यही नहीं व्याकरण, गणित, ज्योतिष, स्मृति, नीति-ग्रन्थ, वैद्यक रसायन, ललित कलाएँ, काव्य, तन्त्र-वाङ्मय, जैन वाङ्मय, तमिल वाङ्मय और सिंहली वाङ्मय आदि सभी को इतिहासिक समय की गति के साथ साहित्य-रूप दे दिया है।

इसके साथ ही तिब्बती-वाङ्मय, तुखारी और प्राचीन तुर्की वाङ्मय, फारसी और अरबी वाङ्मयों पर भारतीय प्रभावों को भी छान दिया है। इस तरह की छान-बीन करके सरल भाषा में सार्थक जानकारी देते जाना किसी चतुर चितेरे का ही काम हो सकता है। जिस प्रसार गुण और समास शैली से आपने क्लिष्ट विषयों का प्रतिपादन किया है वे देखते ही बनते हैं। नीचे दिए उद्धरण से इसकी अभिपुष्टि हो जाएगी :—

"तक्षशिला के उस गौरव के युग में ही, विश्व के इतिहास के उस महापुरुष ने आर्यावर्त में जन्म लिया जिसका नाम आज भी आधी दुनिया जानती है।"

यहाँ महामना महात्मा बुद्ध का ही परिचय नहीं दे दिया, अपितु उसके धर्म की छाप भी एक ही वाक्य में दर्शा दी है। इस सारे ऐतिहासिक विषय को साहित्य का रूप देकर इन्होंने अपने आपको साहित्यकार के रूप में ला खड़ा किया है। स्व० हीरानन्द शास्त्री ने आपकी शैली की प्रशंसा करते हुए क्या ही युक्ति सगंत रूप में लिखा है —"विद्यालंकार जी की वही शैली है, जो पाश्चात्य विद्वानों की। जिस ढंग से और संक्षेप तथा पूर्णता के साथ विद्यालंकार जी ने हमारे साहित्य की प्रत्येक शाखा को प्रस्तुत किया है, वह अतीव रोचक और सुगम है।"

भाषा भावानुसारिणी हो, यही लेखक की सफलता है, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि वही भाषा अच्छी है जिसमें बहुत से मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ हों। भाषा की इति-कर्तव्यता उसकी भाव प्रेषणीयता में होनी चाहिए। हमें सन्तोष है कि भाषा के लालित्य ने हिन्दी मां की गोद को स्मृद्धि से और ललाभ बना दिया है। पालि तिपिटक लेख से लिए गए निम्न अवतरण द्वारा हमारे कथन की पुष्टि हो सकती है :—

"मनोरंजकता, सुरुचि, सरलता, आडम्बर-हीन सौन्दर्य, और शिक्षा प्रदत्तता में उनका मुकाबला नहीं हो सकता। वे बच्चों के लिए भी सरल और आकर्षक, जवानों और बूढ़ों के लिये भी रुचिकर और विद्वानों के लिए प्राचीन भारत के जीवन का जीता-जागता चित्रण करने के कारण अत्यन्त मूल्यवान हैं। उनका सीधापन और हलका व्यंग्य लाजवाब है।"

आपकी भाषा की रंगीली चटक-मटक ने तो प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० चैटर्जी को भी यह कहने पर मजबूर कर दिया कि—"His Hindi is one of the best I have read in a modern writer—he writes beautiful Hindi prose, terse, vigorous to the point and withal picturesque." (उनकी हिन्दी आधुनिक हिन्दी के श्रेष्ठ नमूनों में से है—वे सुन्दर हिन्दी गद्य लिखते हैं, संक्षिप्त और सारगर्भित, ज़ोरदार, ठिकाने का और तिस पर भी रंगीन।)

इसके रचनाकाल (सं० १६३३) से भी यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि साहित्य रत्नों की यह अनमोल पुस्तक अपने युग की माँग का परिणाम थी। अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति एवं साहित्य की चकाचौंध में भूले हुए भारतीय के लिये यह पुस्तक प्रकाश-स्तम्भ के रूप में प्रकट हुई होगी, तभी इसके कई संस्करण व मुद्रण उपयुक्त हो चुके हैं।

—२—

जहाँ यह सत्य है कि जिस समाज में पुरखों का आदर, विद्वानों

का सम्मान, अत्याचार का दमन करने वाले शूरवीरों के प्रति श्रद्धा और अपनी संस्कृति के मान बिन्दुओं के हित मर मिटने वाले यशस्वी कर्मवीरों के प्रति निष्ठा के भाव उठ जाएँ, वह समाज कदापि वर्द्धमान दिशा की ओर अग्रसर नहीं हो सकता, वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि जिस देश में बच्चों की शिक्षा-दीक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता उस समाज का भविष्य अन्धकारमय होगा।

विद्यालंकार जी की प्रतिभा ने इन दोनों समस्याओं का समाधान हमें अपनी 'पुरखों का चरित' नामक तीन पोथियों से करवाया है। ये तीनों पुस्तकें अपने आपमें भारत का सर्वांग पूर्ण इतिहास हैं। बालकों के मनोविज्ञान] को समझते हुए उन्होंने सभी ऐतिहासिक तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। बच्चों के लिये इतिहास सामग्री प्रस्तुत करने के बारे में उनका दृष्टिकोण नितरां मौलिक एवं नवीन है। उनकी धारणा है कि "१२, १३ बरस की आयु तक के बच्चों को अपने देश के इतिहास की शिक्षा इस प्रकार चरितों के रूप में ही देना उचित है। भारत की जनता अमुक नृवंशों से बनी है, अमुक युग में भारत की आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृत दशा ऐसी थी, इत्यादि छान-बीन की बातें बालक को पहले से बताने लगना अत्यन्त गलत तरीका है।"

इसलिए बच्चे को पहले तथ्य कहानी के रूप में सिखा दिए जाएँ और बाद में छान-बीन करवाई जाए। यही उनके अनुसार वैज्ञानिक तरीका है।

'पुरखों का चरित' ये पुस्तकें इसी दृष्टिकोण की पूर्ति के निमित्त सफल प्रयास है। कठिन से कठिन इतिहासिक चरित्र को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से और बच्चों की कठिनाइयों को सम्मुख रखते हुए सरल एवं निश्छल ढंग से प्रतिपादित किया गया है। कुमारावस्था संस्कारावस्था होती है। "यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्" के अनुसार इन आदर्श चरितों की

अमिट छाप से वे अपने जीवन की दिशा को बदल सकेंगे। स्वतन्त्र भारत में यह नितान्त अनिवार्य है।

यद्यपि आपकी अविराम लग्न ने इतिहास के अन्तर्हित तथ्यों के उद्घाटन में ही सन्तुष्टि प्राप्त की है, पर बच्चों की आरम्भिक शिक्षा के बारे में भी हमें मौलिक पथप्रदर्शन आपसे मिल जाता है। यदि यह कहा जाए कि आपमें इतिहासकार, साहित्यकार, और शिक्षण-विज्ञ का एक अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

भाषा की भोली-भाली सरलता के साथ तत्कालीन ऐतिहासिक शब्दों—का संयोजन हमारे सामने एक ऐसा ऐतिहासिक वायुमण्डल एवं वातावरण प्रस्तुत करता है जिससे हमारे सामने वही समय मूर्तिमान् हो उठता है।

———

हिन्दी के अनन्य सेवक—जयचन्द्र

सागर की गहराई में से गोताखोर द्वारा परिश्रम से खोज कर लाई हुई प्रत्येक सीप में मोती नहीं होता। माली द्वारा भविष्य की आशा के रूप में सींचे गए प्रत्येक पौधे पर खिलने वाला फूल सरस और मधुर फल का रूप नहीं ले पाता। आकाश से निरन्तर झरने वाली प्रत्येक बूंद में केले में गिर कर कपूर बनने की क्षमता नहीं होती। ठीक इसी प्रकार इस दो हाथ-पैर वाले प्रत्येक मनुष्य में अपनी आँखों में समाए स्वप्नों को साकार बनाने की क्षमता सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। मार्ग की बाधाओं का काल्पनिक चित्र सामने खड़ा करके एक अज्ञात थकान से बोझिल पाँवों को आगे की ओर न बढ़ाने का साहस करने वाले यात्रियों की गाथाएँ बहुत मिलेंगी, परन्तु अनेक विघन-बाधाओं को पार करते हुए अपनी कठिन साधना द्वारा अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते चलने वाले किसी यात्री का उदाहरण कम ही मिलता है। यदि अपनी इन पंक्तियों को मैं श्री जयचंद्र विद्यालंकार जी के विषय में प्रयोग कर लूं तो अत्युक्ति न होगी। इसका कारण है कि उन्होंने अपने लक्ष्य——राष्ट्रभाषा हिन्दी के गौरव के लिये जिन-जिन बाधाओं को पार किया है उनके विषय में चिंतन करते ही अनेक चित्र सामने आ खड़े होते हैं, जिन पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि विद्यालंकार जी के सामने क्या-क्या समस्याएँ थीं। इस हिन्दी प्रेम को साकार रूप देने के लिये और एक जूझने वाले अनथक कार्यकर्ता की तरह वे उनसे किस तरह भिड़ते रहे और अपने प्रयत्न में सफल हुए।

जयचन्द्र जी ने अपने उस आरम्भिक शिक्षा-काल में ही यह मंत्र सीख लिया था कि यदि इस सोए हुए भारत को जाग आ सकती है तो इसके अपने ही ज्ञान-विज्ञान से और उस ज्ञान-विज्ञान को प्रस्तुत करने का सनाध हैं भारत की अपनी भाषाएँ, जिनमें हिन्दो का स्थान अधिक

ऊँचा और विशाल है। श्रीमती जयचन्द्र जी विद्यालंकार के शब्दों में—"स्वामी श्रद्धानन्द जी की यह शिक्षा उनके मन में घर कर गई और स्वामी जी की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से उन्होंने इस कार्य को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। पिछले ३६ वर्षों से वे बराबर इसी दिशा में प्रयत्न करते रहे हैं।"

(पंजाब हिं० सा० स० स्मृतिग्रन्थ)

विद्यालंकार जी का सम्बन्ध विशेषतया पंजाब के साथ होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि उनकी दृष्टि पंजाब की भाषा-स्थिति पर पड़ती, और हुआ भी यही। अपनी शिक्षा समाप्त करते ही आप जब लाहौर के "तिलक स्कूल ऑफ पालिटिक्स" में अध्यापक होकर आए तब आपने पंजाब की उस समय की अस्त-व्यस्त भाषा-स्थिति पर दृष्टिपात किया। इसका एक बड़ा कारण यह था कि अन्य प्रांतों की भाँति यहाँ पंजाब में भाषा की स्थिति कुछ भिन्न थी। राजकीय काम-काज में, सामाजिक जीवन के उच्च क्षेत्र में प्रायः ही अंग्रज़ी की प्रधानता थी। इसके साथ साधारणतया सामान्य कार्यसंचालन के लिये तथा सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में, उत्सव-समारोहों आदि के अवसर पर उर्दू को प्रमुखता दी जाती थी। हिंदी का क्षेत्र नितांत सीमित और संकुचित था। प्रायः धार्मिक कार्यों में इसका प्रयोग होता अथवा घरों की स्त्रियाँ ही उससे अधिक परिचित होती थीं। इस प्रकार एक ही घर में भाई-बहिन, स्त्री-पुरुष के व्यवहार की भाषा में भिन्नता थी। पुरुष केवल वे ही हिन्दी सीखते थे जिन्हें अपना धार्मिक कार्य-संचालन करना पड़ता था अथवा जिनका आधार ही इस पर था। हां इतना अवश्य था कि आर्यसमाज, सनातनधर्म आदि संस्थाएँ केवल धार्मिक शिक्षा के रूप में अपनी-अपनी संस्थाओं द्वारा चलाए स्कूलों में एक विषय के रूप में हिन्दी से अपना सम्बन्ध बनाए हुए थीं।

जयचन्द्र जी इतिहास के एक विशेषज्ञ स्नातक होने के कारण इस

तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि जिस पंचनद प्रदेश में गुरु नानक, पंचम गुरु श्री अर्जुन देव जी तथा दशम गुरु गोविंद सिंह जी जैसी महान् आत्माओं ने ब्रज-भारती में अपनी अमूल्य उपदेश-निधि लोगों को दी है और जहाँ हंसराम, सुदामा, श्याम, अमीरदास आदि कवियों ने अपनी-अपनी साहित्यिक देन देकर इसे प्रफुल्लित किया है, वहाँ ही यह भाषा केवल धार्मिक दृष्टिकोण की पूर्ति का साधन मात्र रह गई है। निश्चय ही इससे आपको एक धक्का लगा। देखा जाय तो प्रांत की प्रगति में यह एक बड़ी भारी बाधा थी। ऊँचा साहित्य हिन्दी में न मिलने के कारण जन-साधारण उस ज्ञान से वंचित था जिसका सम्बन्ध स्वराज्य से था। जयचन्द्र जी का यह विश्वास था और है कि भारतीय संस्कृति का भार यदि कोई लिपि वहन कर सकती है तो वह 'नागरी' है और यदि इसके माध्यम से ही सभी भाषाओं को अपनाया जाय तो न केवल पंजाब अपितु समस्त भारत, दिनों में ही एक अटूट बंधन में बँध सकता है और तब 'स्वराज्य' की प्राप्ति के लिए अच्छी पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो सकती है और स्वराज्य 'सुराज' में परिवर्तित हो सकता है। अतः क्यों न एक ही माध्यम द्वारा भारतीय संस्कृति की उपासना की जाय। यह एक स्वप्न था जो उस समय आपके सामने आया। अपने इस स्वप्न को साकार करने का प्रयास आपने १९२३ में आरम्भ किया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी प्रेम आपमें एक उत्कट रूप में पहले से ही बीज रूप में उपस्थित था अब वह अपना वृक्ष रूप लेकर फैलना चाहता था। इसके लिये जहाँ कहीं भी हिन्दी प्रचार अथवा साहित्यिक गतिविधि का कार्य होता वहीं आप तन-मन से उसके कार्य में जुट जाते। १९२२ में कानपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अखिल भारतीय अधिवेशन हुआ। उस सम्मेलन में विद्यालंकार जी ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया और वहीं एक धारणा बनाई कि यदि आगामी अधिवेशन लाहौर हो सके तो बहुत अच्छा हो। अपने कुछ साथियों की सलाह से उत्साह पाकर आगामी अधिवेशन लाहौर में करने का आमंत्रण अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन को

दे दिया गया। १६२३ में जब अधिवेशन लाहौर हुआ तो आपकी लगन देख कर लोगों ने निश्चय किया कि पंजाब में यह कार्य भविष्य में भी चालू रखा जाय और यहाँ भी प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की जाय। इस शुभ कार्य के लिये एक संयोजक समिति बनाई गई और डॉ० गोकुलचन्द्र नारंग को उसका प्रधान चुना गया। विद्यालंकार जी का उत्साह देख कर इन्हें ही सर्वसम्मति से उसका मंत्री चुना गया।

प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हो गई और एक नियमावली तैयार करके संयोजक समिति से स्वीकार भी करा ली गई, परन्तु जैसा कि नियम है कि ऐसे-ऐसे उत्सवों या समारोहों का प्रभाव कुछ दिन तक तो लोगों को उत्साह के साथ कार्य करने का बढ़ावा देता है लेकिन ज़रा-सी भी ढील देते ही यह सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता है। यहाँ भी यह नियम उस समय अपना रूप ले कर उपस्थित हुआ, जब सदस्य बनाने का सूखा काम सामने आया। इसके लिये लगन, समय, और धैर्य की अत्यंत आवश्यकता होती है। निश्चय ही यह सब कुछ विद्यालंकार जी में था और उन्होंने इसे पूर्ण करने में अपना तन-मन एक कर दिया। इस कार्य के लिये आपको संस्था का उद्देश्य और उस उद्देश्य की तह में छिपी प्रांत की एकता और उस एकता में छिपा भारत का अभ्युत्थान बतलाते हुए घंटों का समय देकर भी कभी-कभी सदस्य बना लेने की आशा में गए हुए निराश लौटना पड़ता था। फिर भी विद्यालंकार जी के घोर परिश्रम द्वारा धीरे-धीरे सम्मेलन की सदस्य-संख्या सत्तर के लगभग पहुँच गई। इस पर आपको कुछ आशा हुई और आपने तब लाहौर से बाहर दूसरे शहरों में हिंदी प्रचार का कार्य आरम्भ किया। गुजरांवाला में इसका सफल परीक्षण किया गया। इसके बाद तो आपको फिरोज़पुर, अम्बाला, मुलतान और डेरा अस्मायल खां आदि से भी भाषणों के लिये आमंत्रण पत्र मिले जिन्हें आपनें सहर्ष स्वीकार किया और लोगों मे हिन्दी की भावना जागृत की। इसका फल यह हुआ कि प्रांतीय सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन मलतान में बुलाने का आमंत्रण मिला।

यह सम्मेलन ३०, ३१ मई और १ जून १६२४ को हुआ। इसके प्रधान हिन्दी के परम भक्त स्वामी सत्यदेव जी थे। इसी अवसर पर जयचन्द्र जी के मस्तिष्क में हिन्दी की प्रियता दर्शाने के लिये एक युक्ति सूझी कि क्यों न कुछ नाटकों का आयोजन किया जाय ताकि लोगों में इस बहाने से हिन्दी के प्रति रुचि जाग्रत हो और वे इस शुभ कार्य में सहयोग दे सकें। इस विचारधारा को सक्रिय रूप देने के लिये आपने 'कौमी कॉलिज' के विद्यार्थियों से परामर्श किया। वे लोग सहर्ष तैयार हो गए। इसके बाद भारतेन्दु का 'भारत-दुर्दशा' प्रहसन और 'अंधेर नगरी' को मिला कर एक सफल नाटक खेला गया। इसका उल्लेख श्री यशपाल ने अपनी पुस्तक 'सिंहावलोकन' में भी किया है।[1] इस नाटक का प्रभाव जनता पर भी हुआ और सरकार पर भी। प्रथम तो सरकार ऐसे नाटक लिखने देने के पक्ष में ही नहीं थी जिनमें देशभक्ति का विषय हो, दूसरे हिन्दी में खेला जाना यह उसके लिये एक चुनौती थी। परिणाम यह हुआ कि अधिवेशन के कुछ दिन बाद ही मंत्री होने के नाते विद्यालंकार जी को सरकार की ओर से नोटिस मिला कि ऐसा नाटक भविष्य में न खेला जाय। पग-पग पर बंधन, अड़चनें, परन्तु काफिला चलता रहा, अथक और निर्भय।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिन्दी प्रचार की इस भावना के पीछे विशुद्ध राष्ट्रीय भावना काम कर रही थी। जैसा कि हम पहले कह आए हैं कि विद्यालंकर जी अपनी ही भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा द्वारा जन-जीवन में जागृति चाह रहे थे और इसके लिये प्रयत्नशील थे। यहाँ भी ऐसी बात हुई कि उन दिनों काबुल से राजा महेन्द्र प्रताप का पत्र आपको मिला जिसमें यह स्पष्ट उल्लेख था कि पंजाब में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सर्वप्रथम कर्तव्य यह होना चाहिए कि वह गुरु ग्रन्थ साहब का प्रामाणिक संपादन हिन्दी में करे और इसके बाद दूसरी

---

१. सिंहावलोकन, पृष्ठ ६०

पड़ोसी भाषाओं का साहित्य भी इसमें संपादित करना चाहिए। इसका कारण उन्होंने यह दिया था कि टर्की वाले अरबी छोड़ कर किसी अन्य लिपि को अपनाने के पक्ष में हैं यदि हम लोग हिन्दी माध्यम से अन्य भाषाओं का साहित्य उनके सामने रखें और यह स्पष्ट कर दें कि इसकी लिपि 'नागरी' पूर्ण और वैज्ञानिक है तो टर्की वाले इस ओर झुक सकते हैं। फिर इसकी देखा-देखी एशिया के अन्य देश भी झुक जाएँगे। विचार बहुत उच्च था और जयचन्द्र जी ने इसके लिये भरसक प्रयत्न किया, परन्तु पंजाब साहित्य सम्मेलन के पास इतने साधन नहीं थे। अतः आपने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन को इस ओर कार्य करने के लिये प्रेरित किया, मगर वहाँ की दलबंदी ने इस आवाज़ को सुना नहीं। इन सब बातों से निश्चय ही यह प्रकट हो जाता है कि इस ओर किए जाने वाले प्रयत्न में राष्ट्रीयता की कितनी उच्च भावना काम कर रही थी।

पंजाब भर के डी० ए० वी० स्कूलों में केवल धार्मिक शिक्षा के रूप में थोड़ी-बहुत हिन्दी पढ़ाई जाती थी। इस पर इन स्कूलों के अध्यक्ष महात्मा हंसराज को बड़ा दुःख था। उन्होंने स्वयं भी इसके लिये प्रयत्न किया, परन्तु वहाँ के मुख्याध्यापकों के सामने केवल पैसा या स्कूल की प्रतिष्ठा बनाए रखने का ही प्रश्न होने के कारण सफलता नहीं मिली। इस पर उन्होंने विद्यालंकार जी से कहा कि यदि किसी प्रकार आप भ्रमण करके वहाँ के मुख्याध्यापकों को सीधे राह पर ला सकें तो अच्छा हो। इस पर आप सहर्ष तैयार हो गए और स्थान-स्थान पर भ्रमण करके, घंटों का समय देकर अध्यापकों के मस्तिष्क में यह धारणा बिठाई कि सचमुच ही प्रारंभिक शिक्षा के लिये हिन्दी उपयुक्त है। इसका परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही प्रांत भर के डी० ए० वी० स्कूलों में हिन्दी को उसका उचित स्थान मिलने लगा। इस प्रकार के भ्रमण समय में आपको अनेक प्रकार के कष्टों का, आर्थिक अभाव का भी सामना करना पड़ता रहा, परन्तु आपके सामने जो स्वप्न था उसे लेकर ही आप आगे-आगे पाँव बढ़ाते रहे, जिसमें सबसे बढ़ कर

यह प्रवृत्ति काम कर रही थी—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" ।

जयचन्द्र जी की हिन्दी के प्रति ऐसी पवित्र राष्ट्रीय भावना देख कर सिंध वालों के मन में भी इसके प्रति मोह जाग्रत हुआ, परन्तु इसकी बाग-डोर किसी सशक्त हाथों में होनी चाहिए, एक विचार कर उन्होंने आपको आमंत्रित किया। आपने आमंत्रण पाकर अगले ही वर्ष अपनी बहिन के साथ जो उस समय के स्वराज्य आंदोलन की प्रतिष्ठित कार्यकर्त्री थीं और जिन्हें इसी अपराध में अंग्रेजी सरकार ने जेल में डाल दिया था, सारे सिंध प्रांत का दौरा किया। इसके लिये आपने एक कार्यक्रम निश्चित किया कि प्रत्येक शहर में कुछ सभाएँ आयोजित की जाएँ और उनमें लोगों को हिन्दी का महत्व बताया जाय। इसके लिये कुछ कार्यकर्त्ता शिक्षण-संस्थाओं में जाकर यह शुभ कार्य करें। इस कार्य के लिये आप स्वयं भी बहुत दिनों तक वहीं रहे और प्रत्येक व्यक्ति तक अपना संदेश पहुँचाया। इसके लिये आपने जो प्रयत्न किया उनमें एक विशेषता यह थी कि वहाँ के विद्वानों और साहित्यकारों को यह बताया कि उनका रचना-क्षेत्र तभी विशाल और विस्तृत हो सकता है यदि वे लोग सिंधी की लिपि अरबी के स्थान पर नागरी अपना लें। और शिक्षण संस्थाएँ कम से कम लड़कियों की शिक्षा अवश्य ही 'नागरी-सिंधी' में कर दें। इसका परिणाम अच्छा निकला, क्योंकि आपकी इस भावना से प्रभावित होकर कई विद्वानों ने हिन्दी को अपनाया और कई स्कूलों ने लड़कियों के लिये नागरी-सिंधी में शिक्षा आरम्भ कर दी। नागरी-सिंधी रीडर लिखे गए, छपाए गए और उनका उपयोग किया जाने लगा। इससे प्रभावित होकर वहाँ के अनगिनत लोगों ने हिन्दी सीखने और प्रत्येक काम में नागरी का व्यवहार करने का प्रण किया। विद्यालंकार जी का स्वप्न किसी सीमा तक पूर्णता की ओर बढ़ रहा था। आपकी इच्छा थी कि वहाँ ही अधिक देर तक रह कर इसे पूर्ण साकार देखा जाय, परन्तु समय के अभाव और कार्य की अधिकता ने वहाँ अधिक देर नहीं रहने दिया।

इधर पंजाब में भी हिंदी का कार्य आगे बढ़ाने का काम था, जिसे

जयचन्द्र जी पूरी तरह निभा रहे थे। अबोहर में स्वामी केशवानंद जी ने जो आजकल पार्लियामेण्ट के सदस्य हैं, आपसे परामर्श करके पंजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन की शाखा के रूप में एक साहित्य सदन की स्थापना की और उसके लिये बीस हज़ार रुपया एकत्र करने का संकल्प किया। इस शुभ कार्य में आपने स्वामी जी को पूर्ण सहयोग दिया और स्थान-स्थान पर इस कार्य के लिये अपीलें कीं। इसका परिणाम पर्याप्त निकला, क्योंकि कुछ ही दिनों में साहित्य सदन के पास हज़ारों रुपया हो गया। कुछ ही देर बाद वहाँ एक पुस्तकालय चालू कर दिया गया और प्राचीन ग्रन्थों तथा प्राचीन साहित्य को शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करने की योजना बनाई गई। यद्यपि पहले यह विचार था कि साहित्य सदन पंजाब हि०सा० स० के साथ सम्बंधित होगा, परन्तु अ० भा० हि० सा० सम्मे० के उच्च अधिकारियों के परामर्श से इसे सीधे ही प्रयाग से सम्बन्धित कर लिया गया। जयचन्द्र जी को इससे दुःख अवश्य हुआ, परन्तु उद्देश्य एक ही था अतः इस पर आपने कोई आपत्ति नहीं की और उसी प्रकार अपने कार्य में लगे रहे।

यों तो आपको इस कार्य में सहयोग देने के लिये कार्यकर्ता मिलते ही रहे, परन्तु स्मरणीय कार्यकर्ताओं में सच्ची लगन वाले कुछेक ही थे, जिनमें श्री रामरत्न जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रीष्म अवकाश के समय शिमला में हिन्दी प्रचार के लिये किसी संस्था के निर्माण की योजना बनाई। इसके लिये उन्होंने विद्यालंकार जी को लिखा। दोनों ने कार्यक्रम बना कर शिमला म कार्य आरम्भ कर दिया। वहाँ कुछ नवयुवकों को यह कार्य-भार सौंपा गया। उन्होंने कुछ ही दिनों में कुछ धन एकत्र किया और छोटी-मोटी सभाओं का आयोजन करके हिन्दी के प्रति लोगों की रुचि जाग्रत की। हिन्दी प्रचारिणी सभा के नाम से एक संस्था आरम्भ कर दी गई। जब इस प्रकार की भूमिका बन गई तो आपने शिमला में रह कर कई स्थानों पर व्याख्यान दिए, लेख लिखे और मौखिक रूप से भी लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। फलस्वरूप प्रांत का वार्षिक

सम्मेलन लाला लाजपत राय के सभापतित्व में १९२७ में हुआ । इसका प्रभाव हुआ कि वहाँ का शिक्षित वर्ग भी इस ओर रुचि लेने लगा। इसका ही परिणाम है कि आज शिमला-वासी हिन्दी को अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक मान देते हैं।

जयचन्द्र जी के लेखक रूप की ओर और उनके अनुसंधान कार्य की ओर मैं दृष्टिपात नहीं कर रहा क्योंकि यह मेरा विषय नहीं। हां यहाँ इतना अवश्य ही कहना पड़ेगा कि जहाँ आप इस प्रकार भ्रमण, व्याख्यान तथा सभा आदि के आयोजनों द्वारा हिन्दी की उन्नति के रूप में प्रांतीय एकता और भारतीय स्वराज्य का स्वप्न देखते हुए अपने पग बढ़ा रहे थे, वहाँ ठोस इतिहास सामग्री तथा अन्य साधनों द्वारा भी इस कार्य को प्रगति की ओर ले जा रहे थे। मार्ग में अनेकों रुकावटें थीं, अनेक प्रकार के लोगों से पाला पड़ता था, फिर भी आप किसी अज्ञात शक्ति से खिंचे हुए इस ओर बढ़ रहे थे। आपके सामने अनेक और भी कार्य थे, अतः पंजाब को इस दिशा की ओर ले चलने का कार्य धीरे-धीरे आपने दूसरे साथियों के कंधों पर भी डालना आरम्भ किया ताकि किसी भी दिन पंजाब को उनका अभाव न खटके। इसके बाद आप अपने स्थायी कार्य के लिये कुछ समय सक्रिय रूप में पंजाब को नहीं दे सके, परन्तु यह बात अवश्य रही कि पंजाब की ओर आपका ध्यान अवश्य रहा।

इतिहास की सच्ची सामग्री देने के लिये जयचन्द्र जी का नाम सबसे आगे लिया जाता है और हिन्दी में देने के कारण और भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेता है। हिन्दी के इस सच्चे इतिहास-लेखक को समय-समय पर प्रांतीय तथा अखिल भार० हिं० सा० सम्मेलन के अधिवेशनों पर इतिहास विभाग का प्रधान पद भी सम्भालना पड़ा है, जैसा कि नागपुर (१९३६), मद्रास (१९३७), बिहार (१९३७) तथा शिमला (१९३८) में होने वाले अधिवेशनों पर। इसके बाद कोटा के अधिवेशन के समय १९५० में आपको सभापति चुना गया और आपने इन पदों पर रह कर हिन्दी की

पर्याप्त सेवा की। कोटा अधिवेशन के अवसर पर आपको अनेक संस्थाओं ने हिन्दी के अनन्य उपासक होने के नाते कई मानपत्र भेंट किए और आप ने सदैव ही उनके उत्तर में यही कहा कि आप जिस स्वप्न को लेकर चले हैं वह अभी पूरा नहीं हुआ, हां यदि इसी प्रकार कार्य चलता रहा तो दिन दूर नहीं जिस दिन हिन्दी सचमुच भारत की राष्ट्रभाषा होगी।

जयचन्द्र जी का विश्वास है कि भारत स्वतन्त्र हो गया है परन्तु भाषा अभी स्वतन्त्र नहीं हुई है, उसके लिये अभी बहुत कुछ करना शेष है। यह कार्य अब उन पुराने साधनों द्वारा केवल सभाएँ या अन्य आयोजन करके नहीं हो सकता, आज तो इसे अनन्य भक्त और अनथक सेवकों की आवश्यकता है जो हिंदी को इस योग्य बना सकें कि पन्द्रह वर्ष का मिला राम बनवास काट कर भी यह अपने सिंहासन पर बैठ सके क्योंकि अपने ही लोगों ने सहर्ष यह निश्चय किया है कि अभी कम से कम, मुंह में कष्टदायक होते हुए भी विदेशी भाषा की यह हिलती हुई दाढ़, पंद्रह वर्ष या इससे भी अधिक सहन करनी ही होगी। विद्यालंकार जी की दृष्टि में यह एक चुनौती है जो हिन्दी प्रेमियों को स्वीकार करनी ही होगी और इसके लिये प्रयत्न करना ही होगा। और आपको विश्वास है कि इसमें विजय हिन्दी की होगी।

विद्यालंकार जी ने अपने कोटा सम्मेलन के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए, कुछ ठोस सुझाव हिन्दी की प्रगति के लिए प्रस्तुत किए हैं जिनमें अंग्रेज़ी से मुग्ध हुए लोगों द्वारा किए गए बहानों का समुचित रूप में उत्तर दिया है। आपने कहा है कि थोड़े-बहुत रूप में सभी भाषाओं में पाठ्य ग्रन्थ हैं। आरम्भ में उन्हें ही काम में लाया जा सकता है और भविष्य के लिये अन्य ग्रन्थों का निर्माण किया जा सकता है। रही बात परिभाषाओं की, तो इसके लिये विद्वान जागरूक हैं, तब तक प्रचलित परिभाषाओं के साथ लेकर चलते हुए भी अपनी भाषा में विचार अभिव्यक्ति की जा सकती है, और फिर हिन्दी के पास तो एक असीम शब्दसागर है जिसके द्वारा वह शीघ्रता से नवीन वैज्ञानिक परिभाषाएँ प्रस्तुत कर सकती है और कर रही है।

इसके साथ ही यह भी तो कोई न्याय नहीं कि क्योंकि कुछ लोग ऐसा चाहते हैं इसलिये विदेशी वस्तु को हम सिंहासन पर बैठाए रखें ? निश्चय ही अब समय आ गया है जब इसकी ओर दृष्टिपात करना होगा। और अपने ही शिक्षा-माध्यम से भारतीय ज्ञान-विज्ञान को लोगों में प्रसारित करना होगा। तभी हम अपने को पूर्ण स्वतन्त्र समझेंगे। १

---

१. देखिए—कोटा अधिवेशन, सभापति का भाषण (१९५०)

जयचन्द्र विद्यालंकार
शिक्षा विशारद के रूप में

"जब भारत के दिमाग़ पर रन्दा फेरना ही "अंग्रेज़ी" शिक्षा (मैकाले शिक्षा पद्धति) का उदिष्ट था, तो दिमाग़ का विकास करने वाली मातृ-भाषा की खुराक उसे क्यों दी जाती।"

(श्री जयचन्द्र विद्यालंकार)

इतिहासकार श्री विद्यालंकार के राष्ट्रीय विचारों का माध्यम शिक्षा सम्बन्धी विचार हैं। शिक्षा आपके लिये न तो सरस्वती का संगीतमय आभूषण है और न ही लक्ष्मी का सुखद वरदान, अपितु शिक्षा है जीवन की सृजन-शक्ति का दूसरा नाम। जीवन शक्ति से अभिप्राय है कि हम प्रकृति की देन को अधिक सुन्दर, उपयोगी और विस्तृत बना सकने में समर्थ हो सकें। मैकाले-शिक्षा-परिपाटी में ऐसी जीवन-शक्ति का विनाश था। इसी लिए आपने इस शिक्षा पद्धति का विरोध किया और राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के उत्थान में सहयोग दिया। आपने कवि अकबर१ (सैयद अकबर हुसेन रिज़वी) के साथ सहमति प्रकट करते हुए लिखा है;—

"अंग्रेज़ी तोपों से भारत के जीते जाने के बाद अंग्रेज प्रोफसर यहाँ वही काम कर रहे थे जो वसूले के बाद रन्दा करता है" और साथ ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र२ की उद्‌भावना का आदर करते हुए लिखा है:—

---

१. "तोप खिसकी प्रोफेसर पहुँचे, यह वसूला हटा तो रन्दा है"
(कवि अकबर)

२. भीतर तथ्य न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन नहिं अंग्रेज़ी
(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

"भारत को जिस ज्ञान से शक्ति मिल सकती थी वह इस पढ़ाई में न था, इसमें केवल वह दिखावटी तेजी थी जिससे वह (अर्थात् भारत) अंग्रेजों का उपकरण बन सकता था।"

आपके विचारों में अकबर और भारतेन्दु का यह सम्मेलन अनुकरणीय था।

अंग्रेज़ी राज्य में भारत में विश्वविद्यालयों का प्रारंभ और संगठन मुख्यतः राज्यतंत्र की दृष्टि से किया गया था। ऐसी ही परिस्थिति में २ फरवरी सन् १८३५ ई० को गवर्नर जनरल की कौंसिल के कानून-सदस्य एवं "लोक शिक्षा समिति" के प्रधान लार्ड मैकॉले ने अपना प्रसिद्ध विवरण पत्र लिखा, जिसमें आधुनिक भारतीय भाषाओं को गँवारू घोषित किया गया तथा संस्कृत-फारसी आदि भाषाओं की तुलना अंग्रेज़ी से करते हुए लिखा गया, "एक अच्छे योरूपीय पुस्तकालय की केवल एक अलमारी भारत तथा अरब के सम्पूर्ण साहित्य के बराबर होगी।" तत्पश्चात् लार्ड कर्जन (१८९८-१९०५) की दमन नीति प्रत्येक प्रकार की जागृति को कुचल रही थी और प्रकृति राष्ट्रीय विचारधारा की उन्नति एवं प्रगति के लिये राष्ट्रीय भाषा की माँग कर रही थी क्योंकि राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। राष्ट्रभाषा का कारखाना होता है देशी शिक्षा (Indigenous Education) जिसे जड़ से ही काट देने के लिये उपर्युक्त शिक्षा प्रणाली प्रयत्नशील थी। ऐसी विकट परिस्थिति में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने सन् १९०२ में, भारत में प्राचीन परम्परा से प्रचलित आश्रम प्रणाली में कुछ सुधार करके, गुरुकुल विश्वविद्यालय की स्थापना की, जो १९२४ में कांगड़ी के स्थान पर लाया गया और तब से गुरुकुल कांगड़ी के नाम से अभिहित है। शिक्षा विशारद श्री विद्यालंकार के शिक्षा सम्बन्धी विचार इसी गुरुकुल विश्वविद्यालय की प्रणाली से निर्मित हुए हैं, इसलिये आपकी विचारधारा राष्ट्रीय शिक्षा की पूर्णरूपेण समर्थक है। अंग्रेज़ी शिक्षा प्रणाली ने भरसक प्रयत्न किया कि राष्ट्रीय शिक्षा के प्रवाह को किसी

मरुभूमि में विलुप्त कर दिया जाए, परन्तु आप जैसे जागरूक विचारक इस दिशा में पूर्णतः सावधान रहे। इस विषय में आपके विचारों का उद्धरण असंगत नहीं होगा :—

> राष्ट्रीय शिक्षा की उक्त विचारधारा के स्रोतों को अंग्रेज़ सुखा नहीं सकते थे, पर उसकी सींच से भारत का अधिक से अधिक क्षेत्र बाहर रहे, इसके उन्होंने बड़े सयाने ढंग से उपाय किए। उन उपायों में से एक यह था कि उस विचारधारा के प्रभाव के कारण देश में जब कोई माँग उत्कट होने लगे और लोगों के उस धारा की तरफ चले जाने का खटका हो, तब अपने विश्वविद्यालयों में उस माँग के अनुसार कुछ सुधार कर लेना या करने का दिखावा करना, जिससे देश के मेधावी वर्ग का नेतृत्व भरसक अपने वंशवद "नरम" लोगों के हाथ में ही रहे।

शिक्षा का ध्येय सृजनात्मक सेवा है, उपभोग या सजधज नहीं। गुरुकुल विश्वविद्यालय के शिक्षितों को राष्ट्रीय शिक्षा यह ध्यान में रखने के लिये प्रेरित करती है कि वे जनता की उदारता और सहायता से ही सरस्वती की उपासना करने की सुविधा पा सके हैं। इसलिये उनकी शिक्षा देशवासियों की अमानत है, जिसे ब्याज समेत लौटाना होगा अर्थात् राष्ट्र के सांस्कृतिक या आर्थिक निर्माण एवं विकास में सहयोग देना होगा। इस प्रकार के दृष्टिकोण के निर्माण के लिये विश्वविद्यालय के वायुमंडल में नैतिक आदर्श की परमावश्यकता है। इस विषय में श्री विद्यालंकार मैकॉले यूनिवर्सिटियों की न्यूनताओं को प्रकट करते हुए कहते हैं—

> "——————मैकॉले विश्वविद्यालयों का तीसरा अभिशाप रहा उनका चरित्र का आदर्श। ————भारत का पुराना आदर्श ज्ञान के साथ सादगी और आदर्श परायणता को जोड़ता है। इन यूनिवर्सिटियों का भाड़ैती का वातावरण उस आदर्श से ठीक उलट रहा।"

विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण में स्कूल के वायुमंडल के अतिरिक्त शिक्षक के व्यक्तित्व के प्रत्यक्ष सजीव प्रभाव का बड़ा हाथ होता है। एक मनो-वैज्ञानिक शिक्षा-विशारद होने के नाते श्री विद्यालंकार जी अध्यापक को शिक्षक बनने के लिये प्रेरित करते हैं:—

> अध्यापक का काम वहाँ (पाठकक्षा में) अपनी लफ्फाज़ी वधारना नहीं प्रत्युत विद्यार्थी को ज्ञान देना और उनकी सोचने की शक्ति जगाना होता था।

इस प्रविधि से पढ़ाने के लिये नवीन ढंग की पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता है। ऐसी पुस्तकों का सृजन शिक्षा-शास्त्र में पारङ्गत विद्वान ही कर सकते हैं। इस क्षत्र में श्री विद्यालंकार का सफल प्रयत्न पथप्रदर्शक एवं सराहनीय है। शैक्षणिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये प्रभूत मात्रा में बाल साहित्य का सृजन करने के साथ-साथ आपने इस रचनात्मक कला का वैज्ञानिक आधार भी स्पष्ट किया है जोकि अन्य शैक्षणिक लेखकों के लिये पथप्रदर्शक है। आपका निम्नलिखित विचार इस दिशा में सिद्धान्त-वाक्य ही है:—

> बालक के मन में तथ्यों का यथेष्ट संग्रह हो जाने के बाद ही उनकी छानबीन आरम्भ करना सार्थक और विज्ञान सम्मत है। पहिले तथ्य संग्रह, पीछे छानबीन, यही ठीक वैज्ञानिक पद्धति है।

इस विषय में आपकी अधिकांश पुस्तकें 'सामाजिक अध्ययन' के बारे में हैं। सामाजिक अध्ययन की सामग्री सामाजिक विज्ञानों का सरल रूप होती है। आपने सामाजिक विज्ञान यथा अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र आदि के कुछेक निश्चयात्मक तथ्यों को आपस में मिलाकर सरल कहानियों में पेश किया है। ऐसी कहानियाँ बच्चों की 'कहानी सुनने' की प्रवृत्ति को भी सन्तुष्ट करती हैं तथा उनकी 'और सुनने' की जिज्ञासा को भी जगाती हैं, उनके सुकुमार मस्तिष्क को सोचने के लिये सामग्री एवं प्रेरणा भी देती हैं तथा उनके मन का समाजीकरण भी

करती हैं। इसीलिये आपकी सामाजिक अध्ययन की छोटी-छोटी पोथियाँ बड़ी बड़ी शैक्षणि मस्याओं का सरल समाधान होने के नाते बाल-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

आपका यह दृढ़ विश्वास है कि विश्वविद्यालय शिक्षा के विषयों पर मौलिक अध्ययन के साथ भारतीय दृष्टि से लिखना अपेक्षित है, यूरोपी शास्त्रों का अनुकरण या अनुवाद हितकर नहीं। क्योंकि यूरोपी भाषाओं में लिखे गए ग्रन्थों के अधिकांश सिद्धान्त यूरोपी समाज की संस्थाओं के प्रयोगों पर आधारित हैं। इस प्रसंग में आपका कहना है:—

> साथ ही मैकाले शिक्षणालयों के जिन अध्यापकों न अपने दिमाग अंग्रज़ों के हाथ बेच रखे थे वे यह प्रश्न उठाते रहे कि भारतीय दृष्टि का अर्थ क्या है। इस प्रश्न का क्रियात्मक उत्तर में पिछले बत्तीस बरस से देता रहा हूँ।
>
> (२६ दिसम्बर १९५० ई०)

बत्तीस और सात उनतालीस बरसों से निरन्तर श्री विद्यालंकार मौलिक अध्ययन एवं भारतीय दृष्टि से शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का सुलझाव देते आ रहे हैं। भले ही आपने टैगोर के शान्ति निकेतन और गांधी जी की बुनियादी शिक्षा की भाँति किसी नवीन शिक्षा-पद्धति की उद्भावना नहीं की परन्तु आप सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बवंडर में संघर्ष करती हुई राष्ट्रीय शिक्षण परम्परा की परिपाटी, पाठ्य क्रम और माध्यम के साथ निरन्तर सम्बन्धित रहे हैं। आप पंडित मदनमोहन मालवीय, महात्मा मुंशीराम एवं आशुतोष मुकर्जी की भाँति राष्ट्रीय शिक्षा को राष्ट्रीय स्वाधीनता का माध्यम मानते रहे हैं। अतः राष्ट्रीय शिक्षा के इतिहास में आपका भी स्थान है।

जयचन्द्र विद्यालंकार

व्यक्तित्व और कृतित्व

शहर के कोलाहल मे दूर प्रकृति के प्रांगण में साधु आश्रम के साधुत्व से परिपूर्ण जयचन्द्र जी विद्यालंकार के निवास-द्वार पर कोई "ऐतिहासिकता" दिखाई नहीं देती। हां उनके ड्राइंग रूम की प्रत्येक वस्तु का अपना एक इतिहास है। कुछ ही क्षणों में मेज़ पर बिखरी पुस्तकें-पत्रिकाएँ, पास उलझे पड़े नोट्स उनके अलग संसार का सहज ही परिचय दे जाते हैं। इतने में एक परिचित-सा स्वर सुनाई दिया, सामने वे स्वयं खड़े थे। उनका प्रभुत्वपूर्ण मुख, अन्तरदृष्टिपूर्ण चमकीली आँखे, पके बाल तथा विशाल ललाट की झुरियाँ, उनके जीवन के पूर्वार्द्ध का अर्थपूर्ण परिचय दे रही थीं। थोड़े ही अनुमान से हमारे सामने उस दृढ़प्रतिज, एकनिष्ठ तथा प्रगतिशील युवक का चित्र खड़ा हो जाता है जिसने अपने उषाकाल में ही जान लिया था कि जीवन का अर्थ है—स्वतन्त्रता-संग्राम में जूझना और सरस्वती-सेवा का तात्पर्य है—जनता को जनता की भाषा में वैज्ञानिक साहित्य द्वारा सचेत करना। स्वभाव से सरल, स्पष्ट तथा मृदुभाषी जयचन्द्र जी कुछ ही अरसे में आपके "अपने" बन जाते हैं। उनका सौजन्यता, शालीन एवं निश्छल वार्तालाप, औपचारिकता को जल्दी दूर कर देते है। अवस्था के अनुसार उनमें पर्याप्त प्रौढ़ता एवं गंभीरता आ गई है।

विद्यालंकार जी की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल में हुई। उनके व्यक्तित्व से ऐसा लगता है जैसे गुरुकुल की प्रकृति उनकी अंत:प्रकृति में साकार हो गई हो। इसीलिए वे आचार-विचार से बड़े आस्तिक हैं। सारा जीवन कड़वे

एवं अवजले अनुभवों से संघर्ष करते हुए भी उनका दृष्टिकोण सदैव आशावादी रहा है, अब भी उन्हें मानवता पर बड़ी आस्था है। उनके दो गुण सर्वत्र ही उभरे दिखते हैं—आत्मविश्वास तथा निरभिमानिता। आत्मविश्वास से उन्हें सूक्ष्म अन्तर्भेदिनी दृष्टि और रूढ़ियों का खण्डन करने की असीम शक्ति प्राप्त हुई। परिणामस्वरूप वे इतिहास के अन्तस्तल को पहचानने में सफल हुए। उन्होंने युग की प्रगतिशील शक्तियों को पहचाना और उन्हें अभिव्यक्ति दी। निश्चय ही आज से ४० वर्ष पूर्व जब न केवल वातावरण प्रतिकूल था बल्कि प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता भी पश्चिमी प्रभाव से अछूते न थे—इस तरह विश्वास के साथ नया मत प्रस्तुत करना जयचन्द्र जैसे व्यक्तियों के सामर्थ्य की ही बात थी।

विद्या और विनय का अटूट संबंध कहा जाता है। जयचन्द्र जी इसके कोई अपवाद नहीं। जीवन के उत्तरार्द्ध में भाषा तथा इतिहास की दृष्टि से इतना योगदान करने के बावजूद उनका सौम्य एवं स्निग्ध व्यक्तित्व सहज ही अभिभूत कर लेता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी श्रेष्ठता को सामने रखते हुए विद्वानों ने उनकी मुक्तकण्ठ से स्तुति की। महात्मा गांधी, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, श्री के० एम० मुनशी, डॉ० सुनीति कुमार चैटर्जी, डॉ० ओझा, डॉ० जायसवाल उन्हीं में से कुछ एक हैं।

(२)

विद्यालंकार जी की राजनैतिक और सामाजिक चेतना असाधारण थी। इसमें एक ओर अपने परिवार के संस्कारों का प्रभाव रहा, दूसरी ओर गुरुकुल के स्वतन्त्र वातावरण का। समय आने पर ये बाल-संस्कार प्रखर एवं उग्र रूप से उभरे। महात्मा गांधी की प्रेरणास्वरूप इन्होंने पंजाब कांग्रेस में सक्रिय भाग लिया। पर इनका गदर पार्टी से भी गहरा संबन्ध था। भगतसिंह जैसे वीर एवं साहसी व्यक्ति में इन्होंने ही त्याग और बलिदान का मन्त्र फूंका। यहाँ तक ही नहीं बिहार में आने पर वहाँ

"बिहार यूथ लीग" का संस्थापन किया और अध्यक्ष रहे तथा युवकों में स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की अग्नि प्रज्ज्वलित की। इसी आदर्श को सामने रखते हुए उन्होंने अपना सारा जीवन राष्ट्रीय संस्थाओं के लिए न्योछावर कर दिया ताकि देश को सिद्धहस्त एवं कर्मठ सेवक मिल सकें। इनका बिहार विद्यापीठ, पटना; विद्यापीठ, काशी, कौमी महाविद्यालय, लाहौर तथा भारतीय विद्याभवन, बम्बई से गहरा सम्पर्क रहा। वहीं इनकी छत्रछाया में पंजाब के पूर्व वित्त मन्त्री कृष्णगोपाल दत्त, उत्तर प्रदेश के वर्तमान मन्त्री मोहन लाल गौतम, तथा नेपाल के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री मात्रिका प्रसाद कोयराला जैसे प्रसिद्ध एवं महान नेता पनपे। इनकी समकालीन राजनैतिक-सामाजिक विषयों पर लिखने की रुचि बहुत पुरानी है, इसी दृष्टि से ये गणेश शंकर विद्यार्थी के प्रसिद्ध पत्र 'प्रताप' तथा 'प्रभात' में लेख दिया करते थे।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इनके सामने एक लक्ष्य निर्धारित कर दिया था कि जब तक जनता को उसकी अपनी भाषा में ज्ञान-विज्ञान नहीं पहुँचाया जाता तब तक भारत का स्वतंत्रता-संग्राम अधूरा रहेगा। स्पष्ट है, लोगों में जागृति एवं नवचेतना लाने के लिये अपने इतिहास तथा संस्कृति से परिचय करवाने का यही एकमात्र साधन है। अंग्रेजों की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दिखाई दे रही थी और भारतीयों को गँवार तथा असभ्य-सा सिद्ध करने के उद्देश्य से लिखे गए इतिहास भी किसी से छिपे न थे। ऐसे वातावरण में स्वामी जी की प्रेरणा बड़ी सार्थक एवं मार्मिक थी और वह सहज ही जयचन्द्र जी के हृदय में घर कर गई। तभी से इनका हिन्दी प्रेम जागा तथा अब तक उसकी सेवा करते चले आ रहे हैं। पर परिस्थितियाँ अनुकूल न थीं, हिन्दी में कोई वैज्ञानिक साहित्य न था और न लोग समझते थे कि यह लिखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में भी इनके आत्मविश्वास तथा कुशाग्र बुद्धि ने साथ दिया। अपने अध्यवसाय एवं परिश्रम से यह सिद्ध कर दिया कि यह कार्य न केवल संभव ही है बल्कि आवश्यक भी है। इनके

प्रयत्न से बहुत से विद्वानों को प्रेरणा मिली और वे देशीय भाषा की ओर उन्मुख हुए।

इनके रचित इतिहास जनता के हैं तथा उसके अनुरूप इनकी भाषा भी जनता की है। प्रेमचन्द की तरह ये भी महान अन्तर्विरोधों तथा अन्त-द्वंद्वों को सरल तथा सुगम शब्दों में व्यक्त कर जाते हैं। इनकी हिन्दी इतनी सीधी एवं प्रवाहमयी है कि श्री सुनीति कुमार चैटर्जी जैसे व्यक्ति भी प्रशंसा किए बिना न रह सके। एक इतिहासकार ने तो इनकी भाषा की सरलता से प्रेरित होकर हिन्दी जल्दी ही सीख ली।

विद्यालंकार जी का यह हिन्दी प्रेम अपने तक ही सीमित न रहा, इन्होंने बड़े परिश्रम एवं उत्साह से पंजाब में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की और बहुत देर तक मन्त्री रहे। हिन्दी में उत्कृष्ट एवं प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करने से इन्हें तीन बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन की इतिहास परिषद् का प्रधान चुना गया। इन्हीं सब सेवाओं के फलस्वरूप १९५० में इन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। अपनी विद्वत्ता एवं अनुभव के आधार पर इन्हें संविधान को हिन्दी में अनुवाद करने वाली समिति का सदस्य नियुक्त किया गया।

स्वामी श्रद्धानन्द जी का संकेत जयचन्द्र जी के लिए प्रर्याप्त था। डॉ० ओझा और डॉ० जायसवाल की प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन ने और गति दी। उनका "आत्म" और "इतिहास" पर्याय बन गए तथा उसी की अभि-व्यक्ति में उन्हें अपनी अभिव्यक्ति दिखाई देने लगी। एक महान इतिहासकार की तरह वे इतिहास में वस्तुपरक दृष्टिकोण (Objective outlook) के पक्ष में हैं अन्यथा पूर्वग्रहों में पड़ कर अधिकांश इतिहासकार सत्य को कई जामे पहनाते हैं। परन्तु इनका यह सत्य जीवन का सत्य है, इसीलिए उनके अनुसार इतिहास केवल जन्म-मरण की घटनाओं की विवरण-पत्रिका नहीं और न अन्तःपुर के षड़यन्त्रों का संकलन मात्र है। इतिहास का

कनवेस विशाल होता है। वह तो युग-प्रतिबिम्ब हैं, उसमें दिखाई देते हैं जनता के उत्थान-पतन तथा आशा-निराशा के संकेत । इसीलिए जयचन्द्र जी अन्य इतिहासकारों की तरह साधारण उपलब्ध सामग्री से संतुष्ट नहीं हो जाते, वे तात्कालिक साहित्य में से उस युग-पुरुष के हृदय की धड़कन सुनते हैं, उसके विश्वास, उसके आदर्श, उसके उद्देश्य तथा उसकी कमजोरियों को देखते हैं। यह सब इसलिए क्योंकि उनकी तत्कालीन साहित्य से सीधी पहुँच होती है। इसीलिए इनके ग्रन्थों को इतिहास मात्र कहना शायद उनसे अन्याय करना होगा । इतिहास के साथ-साथ उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि जीवन को इतना समीप ला देती है कि इनकी रचनाएँ सजीव एवं सप्राण हो उठी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक तात्कालिक पुरुष के हृदय में बैठ कर उसके उत्थान-पतन की कहानी व्यक्त कर रहा हो। वस्तुतः बात बड़ी कहने से कोई बड़ा नहीं हो जाता, अन्य इतिहासकारों ने शायद अधिक बड़ी बातें कही हों परन्तु बात की पकड़, अनुभव की गहराई ही लेखक को बड़ा बनाती है, विद्यालंकार जी स्वयं इसके प्रमाण हैं।

जयचन्द्र जी की विचारधारा सदैव भारतीय एवं सांस्कृतिक रही, इसीलिए उनकी अन्तर्दृष्टि रूढ़िग्रस्त एवं परम्परागत शैली से संतोष न पा सकी। इन्होंने कई मौलिक उद्भावनाएँ कीं—

(क) समस्त इतिहास के क्रमिक विकास का पर्यवेक्षण राजनैतिक दृष्टि से किया, धार्मिक या साम्प्रदायिक आधार पर नहीं। अधिकांश इतिहास-कारों ने हिन्दू-युग, मुस्लिम-युग आदि के ढंग से काल-विभाजन किया, इन्होंने नया कदम उठाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि उस यग में समन्वय-कार्य का कितना महत्व था। इसके दो प्रशंसनीय परिणाम निकले, एक तो राष्ट्रीयता की नींव गहरी हुई, साम्प्रदायिकता के विष को समाप्त करने का यह बड़ा लाभप्रद एवं व्यावहारिक सुझाव था। जब तक बच्चों को यह शिक्षा न दी जाएगी कि हम एक धरती की संतान हैं, एक संस्कृति के विभिन्न अध्याय हैं तब तक पारस्परिक मिलन न सरल है और न संभव।

यह बात गांधी जी को बहुत अपील कर गई, उन्होंने जयचन्द्र जी की बड़ी सराहना की।

दूसरे, उस समय जितने भी इतिहास ग्रन्थ लिखे जा रहे थे उनके पीछे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज़ी प्रभुत्व का स्पर्श बना रहता था। निश्चय ही इसमें कुछ विश्वविद्यालय की शिक्षा प्रणाली का दोष था, कुछ पाश्चात्य सभ्यता के असामान्य प्रभाव का और कुछ अंग्रेज़ी इतिहासकारों की ग़लत धारणाओं का जो किसी न किसी कारण से—देशीय भाषा-साहित्य से सीधे सम्पर्क न होने से शायद—चली आ रही थीं। इन सबने ऐसा वातावरण-सा बना रखा था कि नए लेखक की आवाज़ अनसुनी हो जाती थी। स्पष्ट है इस दृष्टि से विद्यालंकार जी का योगदान केवल महत्वपूर्ण ही नहीं अपितु प्रशंसनीय भी है।

(ख) साधारण इतिहास दिल्ली के इतिहास कहे जा सकते हैं—यहाँ के वंशों के उत्थान-पतन मात्र। जयचन्द्र जी का दृष्टिकोण व्यापक था और पृष्ठभूमि भी विस्तृत थी उन्होंने भारत का इतिहास लिखा है, समस्त प्रदेशों की स्थिति को देख कर उसके महत्व और प्रभाव को आंका है। इसी के फलस्वरूप उनकी लेखनी एक साँस में हिन्दू-युग के दोष दिखा गई और साथ ही मुस्लिम सभ्यता के गुण भी न छिपा सकी। इस तरह का सर्वांगीण परिचय बड़ा श्लाघायोग्य है।

उपर्युक्त विद्वत्ता और योग्यता से ही डॉ० राजेंद्र प्रसाद ने भारतीय इतिहास परिषद् का भार इन्हीं को सौंपा, आप कई वर्ष तक वहाँ कार्य करते रहे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की इतिहास परिषद् के भी आप तीन बार अध्यक्ष रहे। इनके बहुत से लेख अन्य भाषाओं में अनूदित किए जा चुके हैं, आजकल इनके 'इतिहास प्रवेश' का गुजराती में अविकल अनुवाद हो रहा है।

समय की धुरी पर समाज कई चक्कर लगाता है, परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, रीति-रिवाज, रहन-सहन बदल जाते हैं, जीवन जैसे नया जीवन ले लेता हो, पर इन सबके मल में एक अन्तःधारा रहती है जो हम जाने-अनजाने जागरूक किए रहती है कि हम सब हिन्दुस्तानी हैं, एक परम्परा की कड़ी हैं, जो हज़ारों वर्षों से एक सूत्र में बाँधने की प्रेरणा देती है, जो देश की चेतना को हमारी अन्तःचेतना से अनुस्यूत करती है, कहना न होगा कि विद्यालंकार जी उसी धारा के प्रणेता हैं। आज साम्प्रदायिकता और प्रादेशिकता का हाहाकार चारों ओर सुनाई दे रहा है, ऐसी स्थिति में इनका संदेश कितना उपादेय एवं व्यावहारिक है, यह स्पष्ट ही है।

1539—14-2-58—C.P. & S. Pb., Patiala 2,000copies.

भारतीय दृष्टि से इतिहास का विवेचन

(श्री जयचन्द्र विद्यालंकार पिछले चालीस वर्षों से भारतीय इतिहास की स्वतन्त्र दृष्टि से विवेचना करते और अपने स्वाध्याय के फलों को भारत की प्रमुख भाषा हिन्दी में देते रहे हैं। इतिहास का अर्थ उन्होंने क्या समझा और उनकी इतिहास-विवेचना की विशेषताएँ क्या हैं, इसे उन्होंने अपने ग्रंथ "इतिहास प्रवेश" की प्रस्तावना में स्पष्ट किया है, जिसे यहाँ उद्धृत किया जाता है।

प्रस्तावना

१. इतिहास का अर्थ

"इतिहास राष्ट्र का आत्मपर्यवेक्षण आत्मानुचिन्तन आत्मस्मरण और आत्मानुध्यान है"* वह अतीत की ज्योति से अपने वर्तमान स्वरूप को पहचानने और भविष्य के मार्ग को उजियारा करने की चेष्टा है। राष्ट्र की आत्मानुभूति अपने इतिहास के स्मरण द्वारा होती है। संसार की जीवनधारा में किसी राष्ट्र के लोग अपना यथोचित कार्य कर सकें इसके लिये यह आवश्यक है कि वे ठीक ऐतिहासिक दृष्टिक्रम से अपनी स्थिति को देखें और पहचानें।

इतिहास मनुष्य-समूहों का अपने विषय में ज्ञान और मनन है, इसलिये स्वस्थ मानव समूहों में ज्ञान और चिन्तन के उदय के साथ ही इतिहास का भी अरम्भ होता है। हमारे देश में ज्ञान और चिन्तन के पहले संग्रह वेद कहलाते थे और इतिहास को पांचवां वेद और वेदों का वेद कहा जाता था (छान्दोग्य उपनिषद् ७, १, २, कोटलीय अर्थशास्त्र १, ३)। लग० ८९३ ई० में कवि राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में कहा—

इतिहास-पुराणाभ्यां चक्षुर्म्यामिव सत्कवि।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते ॥

*जयचन्द्र विद्यालंकार (२५-४-१९३६)—अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन नागपुर की इतिहास परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण।

--इतिहास और पुरातत्व विवेक के काजल से निखरी हुई आंखें हैं जिनसे मेधावी सूक्ष्म वस्तुओं को भी देख लेता है।

किन्तु उसके बाद हमारे राष्ट्रीय जीवन की ऐसी परिणति हुई कि हमारी आंखें मुंदती गईं अथवा उन पर जाला छाता गया।

२. भारतीय इतिहास का पुनरुद्धार

हम भारत के लोग अपने इतिहास को बहुत कुछ भूल गये थे और उसके कुछ अंशों की याद हमें थी भी तो अत्यन्त उलटपुलट और धुंधली। इसी से हम अपनी उपस्थित स्थिति को भी ठीक देख-समझ न पाते और यही हमारे पराभव का मुख्य कारण हुआ। हमारे इतिहास का पुनरुद्धार अक्षरश: टुकड़े टुकड़े करके हुआ। उस पुनरुद्धार का आरम्भ तब हुआ जब यूरोपियों ने आकर हमारे देश की प्राकृतिक स्थिति और हमारी दशा को ठीक ठीक समझना चाहा और इसलिये हमारे अतीत के बारे में पूछने-जांचने लगे। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक युरोपियों के मुकाबले में भारत के लगातार पराभव की चोट से भारत का नव जागरण आरम्भ हुआ, जिसकी प्रेरणा से बहुत से भारतीयों की भी अपने अतीत के बारे में जिज्ञासा जगी और वे भी उस नई खोज में लग गये। उस खोज से निकले टुकड़ों को जोड़ कर भारत का पहला पूर्ण इतिहास १८९५ ई० में हरप्रसाद शास्त्री ने पेश किया।† उसके बाद कई अंग्रेजों ने भी वैसे इतिहास लिखे और भारत की शिक्षा का पूरा नियन्त्रण अंग्रेजों के हाथ में रहने से वे खूब चले भी। किन्तु इन अंग्रेजी इतिहासों में भारत के अतीत को ठीक रूप में और ठीक दृष्टिक्रम से पेश किया जाने के बजाय बहुत कुछ बेढंगे रूप में या तोड़ मरोड़ कर पेश किया जाता रहा।

३. भारत के अंग्रेजी इतिहास

अंग्रेजों द्वारा हमारे इतिहास की यों छीछालेदर होने के तीन कारण थे। एक

---

†हरप्रसाद शास्त्री (१८९७)—ए स्कूल हिस्टरी ऑफ़ इंडिया (भारत का पाठशालोपयोगी इतिहास)। यह ग्रंथ पहले १८९५ में बंगला में निकला था। वह मूल बंगला ग्रंथ मुझे देखने को नहीं मिला।

तो यह कि "अपने इतिहास को समझने के लिये जो अन्तर्दृष्टि हममें हो सकती है, वह विदेशियों में नहीं हो सकती"। * "किसी राष्ट्र के अतीत इतिहास के पुनर्ग्रथन में उस राष्ट्र की सन्तानों को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें कोई भी विदेशी....नहीं पा सकता।...हम (अपने) ऐतिहासिक अतीत के जीवित अवतार हैं, वह अतीत हमारे खून और हमारी हड्डियों में, हमारे विचार और विश्वास में व्याप्त है।"+ फलतः विदेशियों के लिये, चाहे वे कितने ही निष्पक्ष होकर विचार क्यों न करें, अनेक बार हमारे इतिहास की मूल प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों को समझना बहुत कठिन होता है। दूसरे, १८७० ई० के लगभग से युरोप की विश्वप्रभुता और युरोपी भूमि और नृवंश की श्रेष्ठता का विचार युरोपी अभिजात वर्ग के दिमाग पर इस तरह आविष्ट हो गया और उस आवेश का रंग उनकी आंखों पर इस तरह छा गया कि इतिहास अथवा विद्यमान मानव जीवन के किसी भी पहलू को वे उस विचार का रंग दिये बिना देख ही न पाते रहे। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले और बीसवीं के पहले अंश का युरोप का बहुत सा ऐतिहासिक और सामाजिक चिन्तन इस विचार से दूषित रहा। पर इन सूक्ष्म कारणों के अतिरिक्त एक बहुत ही स्पष्ट और स्थूल कारण था जिससे अंग्रेज़ लेखक हमारे इतिहास को तोड़ मरोड़ कर पेश करते रहे। उनका इसमें सीधा स्वार्थ था। विंसेंट स्मिथ की 'ओक्सफर्ड हिस्टरी आव इंडिया' की आलोचना करते हुए अपने जमाने के भारत के प्रमुख समाजशास्त्री अध्यापक विनयकुमार सरकार ने लिखा था—"ऐतिहासिक दृष्टिक्रम से देखने की योग्यता का श्री स्मिथ के लेखों में प्रायः अभाव है।....... ओक्सफर्ड हिस्टरी में एक और पक्षपात का भाव है जो कि उन निहित स्वार्थों और उपस्थित शक्तियों की तरफ से, जिनकी सेवा में स्मिथ की विद्वत्ता जुती हुई है, राजनीतिक प्रचार करने के कारण पैदा हुआ है।

---

*जयचन्द्र विद्यालंकार (२५-१२-१९३७)—बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मलन आरा की इतिहास परिषद् सभापति के पद से अभिभाषण।

+यदुनाथ सरकार (३०-१२-१९३७)—भारतीय इतिहास परिषद आरम्भिक अधिवेशन बनारस के सभापति पद से अभिभाषण।

वह ग्रंथ, भारतीय विद्यालयों के छात्रों द्वारा पाठ्य- पुस्तक रूप में रटा जाने को है, इसलिये (उन्हें) घटनाओं को इस प्रकार जुटाना था कि दौड़ते आदमी को भी 'गोरों के बोझे' का युक्तिसंगत होना प्रमाणित दिखाई दे जाय ...।"*

भारतीय दृष्टि से इतिहास का मनन

अध्यापक सरकार की इस आलोचना से प्रकट है कि भारत के नव-जागरण से प्रेरित वे विद्वान् जिन्हें अंग्रेज़ी ज़माने में भी स्वतंत्र सोचने और बोलने की हिम्मत थी, अंग्रेज़ों की भारतीय इतिहास विषयक कृतियों की त्रुटियों को बराबर देखते-दिखाते रहे। इससे बढ़ कर, वे भारतीय दृष्टि से अपने इतिहास का मनन कर उसके अनेक पहलुओं को पेश करते रहे। हरप्रसाद शास्त्री, म० गो० रानाडे, रमेशचन्द्र दत्त, गौ० ही० ओझा, वि० का० राजवाडे, गो० स० सरदेसाई, काशीप्रसाद जायसवाल, यदुनाथ सरकार, बामनदास वसु, राखालदास बनर्जी, तारकनाथ दास आदि विद्वानों की परम्परा ने भारतीय दृष्टि से अपने इतिहास को खोजने-पेश करने का संघर्ष बराबर जारी रखा। इस दिमागी संघर्ष में यह भावना कभी न रही कि अपने इतिहास के बुरे पहलुओं को छिपाया या लीप-पोत कर दिखाया जाय। प्रत्युत इन विद्वानों ने विभिन्न युगों में भारतीयों की अवनति या अधोगति की दशाओं और कारणों पर जैसा प्रकाश डाला वैसा कोई विदेशी न डाल सकता। यह बात स्पष्ट रूप से कही जाती रही कि "राष्ट्रीय दृष्टि से अपने इतिहास के मनन का यह अर्थ हरगिज़ नहीं कि हम अपने राष्ट्र की कमज़ोरियों को नज़रन्दाज़ करें। उलटा उन्हीं को समझने के लिये हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और हमीं उन्हें ठीक समझ सकते हैं।"†

और इस राष्ट्रीय प्रयत्न की परम्परा में जहाँ भारतीय इतिहास के

---

*वि० कु० सरकार (१९०९)—पोलिटीकल साइंस क्वार्टली न्यूयौर्क जि० ३४ पृ० ६४५–४६।

†ज० च० विद्यालंकार (१९३७)—पूर्वोक्त आरा अभिभाषण।

अनेक पहलू स्पष्ट किये जाते रहे, वहाँ समूचे भारतीय इतिहास को भारतीय दृष्टि से उपस्थित करने की मांग भी बराबर बनी रही। अध्यापक विनय-कुमार सरकार ने अपने उस लेख में १९१९ में ही कहा था—"स्मिथ ने जिस सामग्री को बरता है, कोई भारतीय विद्वान् उसी का उपयोग करता तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिलकुल दूसरी कहानी पेश करता।" भारतीय "प्राच्य" सम्मेलन (ओरियंटल कान्फ्रेंस) के छठे अधिवेशन (पटना १९३०) के सभापति पद से डा० हीरा लाल ने कहा था—"इस वेला विशेष कर एक बड़ी आवश्यकता उत्कट रूप से अनुभव होती है और वह है भारतीय दृष्टि से लिखे हुए इतिहास की।" १९३८–३९ में इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन उसी आवश्यकता के उत्कट अनुभव का फल था।

जैसा कि इस ग्रंथ की आलोचना करते हुए डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्ये ने लिखा था—भारतीय दृष्टि से इतिहास कहने का अर्थ अथ से इति तक शुद्ध विज्ञान और सत्य को प्रकाश में लाना और वर्गविशेष (या जाति विशेष) की उत्कृष्टता के विचार की गुलामी से मुक्ति दिलाना ही था, और कुछ नहीं।† अंग्रेज़ लेखक अपने लिखे इतिहासों में यह दिखाने का प्रयत्न करते कि युरोपी भूमि नृवंश और सभ्यता भारत की भूमि नृवंश और सभ्यता से उच्चतर हैं। भारत के युवक-युवतियों में इस प्रकार के विचार फैलने से भारत में अंग्रेज़ी राज की बुनियादें दृढ़तर होतीं इसलिये उनका ऐसा प्रयत्न स्वाभाविक था। स्वतन्त्र भारतीय ऐतिहासिक उनकी इन स्थापनाओं को जांचते तो इनमें अनेक हेत्वाभास देखते, जिनका प्रत्याख्यान करते हुए मनुष्यमात्र की समानता दिखाना उनका कार्य होता। यों अंग्रेज़ लेखक भारतीय इतिहास के सत्यों को क्यों धुंध से ढकने का जतन करते रहे, और 'भारतीय दृष्टि' से इतिहास प्रस्तुत करने वाले क्यों शुद्ध सत्य को प्रकट करने में अपनी शक्ति लगाते रहे, इसका स्पष्ट कारण था।

इस ग्रंथ के प्रकाशन से अध्यापक विनय कुमार सरकार की १९१९ की

---

†सुनीतिकुमार चाटुर्ज्ये (१९४१)—कलकत्ता रिव्य, फ़रवरी १९४१

भविष्योक्ति पूरी तरह सत्य सिद्ध हुई। मेरी पेश की हुई कहानी अंग्रेज़ों द्वारा चलाई हुई कहानी से "बिलकुल दूसरी" है, यह तो इसके प्रत्येक पन्ने से प्रकट होगा। किन्तु इसकी मुख्य विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता है, जो कि यहाँ बहुत संक्षेप से किया जायगा।

भारतीय इतिहास का युगविभाग

अंग्रेज़ों ने हमारे राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास में काल का फिरकेवार बँटवारा चलाया। उदाहरण के लिये "केम्ब्रिज शौर्टर हिस्टरी" में वैदिक युग से विजयनगर के पतन तक 'हिन्दू काल' की कहानी पहले दी गई है। फिर आठ शताब्दियों पीछे लौट कर भारत में इस्लाम के प्रवेश की बात से 'मुस्लिम काल' की कहानी आरम्भ की गई है जो १८५७ में बहादुर शाह दूसरे के पतन के साथ समाप्त होती है। फिर चार शताब्दी पीछे लौट कर पुर्तगालियों के भारत आने के वृत्तांत से 'त्रितावनी काल' आरम्भ किया गया है। इस विभाजन की बेहूदगी मैंने सन् १९३९ में अपने नागपुर अभिभाषण में दिखाई थी।

सातवीं शताब्दी के मध्य से इस्लाम भारत की सीमाओं पर टकराने लगता है और आठवीं के शुरू में सिन्ध में स्थापित हो जाता है। इन घटनाओं की उपेक्षा करके क्या प्रतिहार और राष्ट्रकूट साम्राज्यों और उस युग के अन्य हिन्दू राज्यों का ठीक चित्र अंकित किया जा सकता या उनके प्रशासकों की मन:स्थिति की ठीक व्याख्या की जा सकती है? राजेन्द्र चोल और भोज की कहानी आप 'हिन्दू काल' में कह चुकते हैं, और महमूद ग़ज़नवी की 'मुस्लिम काल में लाते हैं। तीनों की समकालीनता पर ध्यान दिये बिना क्या भोज का या महमूद का या राजेन्द्र का भी ठीक चरित समझ में आ सकता है? १४वीं शताब्दी के आरम्भ की भारत की दुर्दशा को स्पष्ट किये बिना विजयनगर के उदय की कहानी कहना आकाश में चित्र बनाने के समान है। १६वीं १७वीं शताब्दियों में भारत के तट की युरोपी बस्तियों से भारत के सब बड़े राज्य गोलाबारूद तोपें और तोपची पाते थे। उन युरोपी बस्तियों और उनके साथ भारतीय समुद्र में मँडराने वाले चांचियों (जल-डाकुओं) का वृत्तांत जाने बिना

क्या मुग़ल-मराठा युग के प्रशासकों की परिस्थिति और मनःस्थिति समझी जा सकती है ? १७४०–५१ ई० में मराठों को पहले पहल स्थल-युद्ध की नई युरोपी शैली से वास्ता पड़ा। उस शैली को अधूरा समझ कर पानीपत में उन्होंने उसे बरतना चाहा और यही उनकी हार का कारण हुआ। युरोपी शक्ति के उदय की बात आप 'ब्रितानवी काल' में बतायेंगे और पानीपत की कहानी उससे पहले समझा देना चाहेंगे। क्या यह संभव है ? पलाशी की लड़ाई १७५७ ई० में हुई और पानीपत की १७६१ में। पर आप पानीपत की कहानी पहले कहते हैं और पलाशी की पीछे! पलाशी के २ १/२ मास बाद रुहेलों का नेता मराठों से समझौते की मिन्नत करता है, पर वे उसकी नहीं सुनते और पंजाब पर चढ़ाई करते हैं। यह बात कितने महत्व की है, पर आप पानीपत की कहानी पलाशी से पहले कहते हैं तो आपकी नजर में यह नहीं आ सकती और यों आप उस युग के इतिहास के तत्व को देखने से चूक जाते हैं।

किसी भी युग की समूची परिस्थिति में से एक अंश को साम्प्रदायिक कारण से अलग काट रख कर जो चित्र खींचा जायगा, उसकी पृष्ठभूमि गलत होने से वह मूलतः गलत होगा। "भारतवर्ष के इतिहास को यों मजहबी ढांचे पर चढ़ाना जीवित प्राणी को काठ के शिकंजे मे कसना है।"* "भारतीय इतिहास का साम्प्रदायिक युगविभाग ....एक तरफ उभरा हुआ, एक तरफ पिचका हुआ और बीच बीच में उखड़ा हुआ आइना है जो हमारे इतिहास को अत्यन्त विरूप बना कर दिखाता है।"†

ऊपर के विवेचन से यह भी प्रकट होना चाहिए कि अंग्रेजों के गढ़े हुए युगों के केवल नाम बदल देने से—'हिन्दू', 'मुस्लिम' और ब्रितानवी' 'कालों' को प्राचीन मध्य और अर्वाचीन काल कह देने से—कोई अन्तर पड़ता, जब तक कि उनके भीतर का विषय-विभाजन उसी ढंग का है। और

---

*नागपुर अभिभाषण।

†ज० च० विद्यालंकार (१८-९-१९३८)—अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन शिमला में इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण

बारहवीं शताब्दी तक के समूचे काल को प्राचीन और उन्नीसवीं शताब्दी मध्य तक के काल को मध्य काल कहना है भी गलत। कालक्रम से भारत की पूरी परिस्थिति को देखते हुए और उसके राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन के पूरे विकास को टटोलते हुए उस विकास की जो मंजिलें प्रकट होती हैं, वही भारतीय इतिहास के ठीक युगविभाग को सूचित करती हैं। जहां तक मुझे मालूम है, अंग्रेज़ों ने भारतीय इतिहास को साम्प्रदायिक युग-विभाग के जिस काठ के शिकंजे में कसा था उससे उसे छुड़ा कर पूरे भारतीय इतिहास का राष्ट्रीय जीवन की विकास-मंजिलों का सूचक युगविभाग पहलेपहल सन् १९३९ में मेरे नागपुर अभिभाषण में ही प्रकट किया गया। देश के प्रमुख विचारकों ने उसकी सत्यता स्वीकार की। इस ग्रंथ का ढांचा वही है।

इस ग्रंथ के मनन से उस युग विभाग की स्वाभाविकता स्पष्ट दिखाई देगी। यहां केवल इतनी बात की ओर और ध्यान खींच दिया जाय कि नागपुर अभिभाषण वाला यह युगविभाग भारत की सांस्कृतिक परिणिति की मंजिलें वैसी ही स्पष्ट दिखाता है जैसी राजनीतिक की, यह बात राय कृष्णदास जैसे भारतीय कला इतिहास के मर्मज्ञ ने उस युगविभाग को अपनाते हुए बार बार दोहराई है। भारतीय कलाकृतियों का बौद्ध-जैन-हिन्दु-मुस्लिम आदि शीर्षकों में बँटवारा उनके विषय में बड़ी भ्रांति उत्पन्न करता रहा है। "अपने देश की कला में कभी सम्प्रदायपरक भेद नहीं रहा है। उसमें जो कुछ अन्तर है सो राजनीतिक युग वा कालपरक है।"‡

६. समूची सामग्री का सामञ्जस्य

प्रत्येक काल की पूरी परिस्थिति पर जैसे ध्यान देना चाहिए, वैसे ही उसके इतिहास की समूची सामग्री का सामञ्जस्य करके तथ्यों का निश्चय करना चाहिए। साम्प्रदायिक-दृष्टि-ग्रस्त लोग ऐसा नहीं करते रहे। उदाहरण के लिये, सल्तनत युग चूंकि उनकी दृष्टि में मुस्लिम युग है, इसलिये उसका इतिहास वे मुस्लिम तवारीखों के आधार पर उनकी यथेष्ट जांच किये बिना

‡ कृष्णदास (१९३९)—भारत की चित्रकला पृ० ७१।

ही बनाते रहे । सब तरफ की सामग्री का सामञ्जस्य करके इस युग के इतिहास के पुनर्निर्माण की पद्धति पहलेपहल मेरे स्वर्गीय गु पं० गौ० ही० ओझा०, स्व० राखालदास बनर्जी तथा स्व० सा० कृष्ण स्वामी ऐयंगर ने अपने राजस्थान बंगाल और उड़ीसा तथा दक्खिन भारत के इतिहासों में दिखाई थी। इस ग्रंथ में समूचे भारत के लिये वही पद्धति बरती गई है। महमूद, शहाबुद्दीन गौरी और अल्तमश के सिक्के, चित्तौड़ कीर्त्तिस्तम्भ की दीवारें और संस्कृत के अनेक अभिलेख और ग्रंथ जो कहानी बताते हैं वह प्रचलित कहानी से कितनी भिन्न है! शम्शुद्दीन इलियासशाह की नेपाल चढ़ाई (८,५§४) का उल्लेख किसी तवारीख में नहीं है, उसका पता मिला है काठमांडू के पशुपतिनाथ मन्दिर में शम्शुद्दीन के खुदवाये संस्कृत शिलालेख से, जिसे पहले पहल मेरे स्वर्गीय गुरु काशी प्रसाद जी जायसवाल ने पढ़ा और प्रकाशित किया। काश्मीर में हिन्दू राज्य के पतन और सल्तनत के उदय का इतिहास पिछली राजतरंगिणियों के आधार पर, पहलेपहल स्पष्ट रूप में मेरी "भारतीय इतिहास की मीमांसा" और इस ग्रंथ में ही दिया जा रहा है। समूचे भारत के लिये वह कितना शिक्षाप्रद है!

§७. भारतीय इतिहास की सामासिक धारा

प्रत्येक युग में समूचे भारत और इतिहास की चौतरफा सामग्री पर ध्यान दने से भारत की विविधता में एकता सुन्दर रूप में प्रकट हुई है। अंग्रेजी सांचे के इतिहास पटना या दिल्ली या कलकत्ता जैसे किसी केन्द्रीय राज्य का पल्ला पकड़ कर भारत का इतिहास कहते और दूसरे प्रदेशों की उपेक्षा करते हैं। जिन युगों में वैसा कोई सहारा न मिले और प्रादेशिक राज्य ही रह हों उनमें भुवनकोश (गज़ेटियर) के ढंग से एक के बाद दूसरे राज्य या राजवंश को लेते हैं जिससे प्रत्येक प्रदेश की शताब्दियों की घटनाएँ एक दूसरे से असम्बद्ध अलग-अलग धारा में आती हैं। इस ग्रंथ की पद्धति में समूचे भारत के घटना-प्रवाह पर एक साथ दृष्टि रखते हुए इस पर ध्यान दिया जाता है कि शक्ति का समतुलन किस प्रकार होता रहा और गुरुताकेन्द्र कैसे एक तरफ से दूसरी तरफ खसकता रहा। किसी माने हुए केन्द्रीय राज्य

की घटनाओं को योंही महत्व न देकर "घटनाओं के आपेक्षिक महत्व की—(परख इस कसौटी पर की जानी) है कि किस घटना ने कितने व्यापक प्रदेश पर कितना चिरस्थायी प्रभाव किया ।"* यों प्रादेशिक राज्यों के बीच भी भारत की एकता-प्रवृत्ति और भारतीय इतिहास की सामासिक धारा तथा प्रत्येक प्रदेश की उस धारा में देन स्पष्ट दीख पड़ती है, परस्पर असम्बद्ध निर्जीव घटना-तालिका के बजाय जानदार घटना-माला सामने आती है, और प्रत्येक प्रदेश की कहानी अपने पड़ोसियों की कहानी से सम्बद्ध हो जाने के कारण सार्थक लगने लगती है । अंग्रेज़ी सांचे के इतिहासों और इस ग्रंथ के ऐसे युगों के वृत्तांतों के मिलान से यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा । ८वीं ९वीं शताब्दियों में किस प्रकार भारत में साम्राज्यस्थापना का संघर्ष चलता रहा प्रायः सातवीं से दसवीं तक और छोटे पैमाने पर बारहवीं तक भी किस प्रकार उत्तरदक्खिन भारत के दो साम्राज्य बने रहे, १४वीं १५वीं शताब्दियों के प्रादेशिक राज्यों ने किस प्रकार देश में राजनीतिक सुव्यवस्था पुनःस्थापित की और सांस्कृतिक पुनरुत्थान में प्रेरणा और सहायता दी, यह सामासिक पर्यालोचन की पद्धति से ही प्रकट हुआ है । अंग्रेज़ों को भारत की छिन्न-भिन्नता और भारतीय इतिहास की अर्थहीनता को बढ़ा कर दिखाना था, इसलिये वे इन तथ्यों की ओर से आँख फेर लेते रहे । पर जो कुछ वे दिखाते रहे वह सत्य से बहुत भिन्न है ।

८. बृहत्तर भारत और भारत के विदेश सम्बन्ध

अंग्रेज ऐतिहासिक एक और बात को बड़े उत्साह से बखानते रहे, और वह थी—भारत का "जगमग एकाकीपन (स्प्लेंडिड आइसोलेशन)", उसका दुनिया से अलग बने रहना ! पिछली पौन शताब्दी की ऐतिहासिक खोज ने उससे ठीक उलटी बात सिद्ध की है । भारत के विदेश-सम्बन्धों और बृहत्तर भारत की वह कहानी भारत के इतिहास का अपरिहार्य अंश है । इस ग्रंथ में वह शृंखलाबद्ध रूप में यथास्थान दी गई है, और विश्व-इतिहास के या विदेशों के इतिहास के

---

*पूर्वोक्त शिमला अभिभाषण (१९३८) ।

जिन पहलुओं का भारत पर प्रभाव पड़ा है उन्हें भी स्पष्ट करके दिखाया गया है।

६. भारत में अंग्रेज़ी राज

अंग्रेज़ी साँचे के भारत के इतिहासों में ब्रितानवी युग विशेष कर इस ढंग से अंकित किया जाता कि (अध्यापक विनयकुमार सरकार के शब्दों में) अंग्रेज़ों के साम्राज्यनिर्माण का "समूचा रास्ता गुलाबों" से ढका देख पड़े, और कि उनका प्रत्येक प्रतिद्वंद्वी शठ या सनकी प्रतीत हो! गवर्नर-जनरलों के युद्धों की और "भारत की नैतिक और भौतिक प्रगति" के लिये उनके बनाये कानूनों की कहानी से ही उनके इस युग के इतिहास का तानाबाना बनता। भारत के पुनर्जागरण को भी अंग्रेज़ों के उन प्रयत्नों का फल बना कर दिखाया जाता— मनुष्य में स्वाधीनता के लिये जो सहज तड़पन है उसकी प्रेरणा से भी भारतीयों ने कभी कुछ किया इस विचार को नज़दीक न फटकने दिया जाता। अंग्रेज़ राजनेताओं की काली करतूतों और साजिशों की तथा इंगिलिस्तान द्वारा भारत के लुंठन और विदोहन शोषण की कहानी को तो छिपाया ही जाता, भारत के साधनों द्वारा ब्रितानवी साम्राज्य कैसे बढ़ता गया और ब्रितानिया कैसे विश्व-शक्ति बन गया इस पहलू को भी आँखों से ओझल रक्खा जाता इस तरह के इतिहासों से केवल बच्चे बहलाये जा सकते थे; पश्चिम के अन्य देशों के विद्वान् भी, जो घटनाओं की युक्तिसंगत व्याख्या चाहते, संतुष्ट न हो पाते। इसीलिये, जैसा कि अध्यापक वि० कु० सरकार ने कहा था, पाश्चात्य विद्वान् भारत के ब्रितानवी युग का भी कोई अच्छा साधारण इतिहास न होने की प्राय: शिकायत करते रहे। भारतीय इतिहास के ब्रितानवी युग के उक्त पहलुओं पर रमेशचन्द्र दत्त, विनायक सावरकर, वामनदास बसु, तारकनाथ दास जैसे भारतीय विद्वान् प्रकाश डालते रहे। इस ग्रन्थ में उनका अनुसरण और उनकी खोजों का पूरा उपयोग किया गया है, और भारतीय इतिहास के ब्रितानवी युग का बहुत संक्षिप्त होते हुए भी पूर्ण इतिहास पहली बार दिया गया है। सन् १६३६ के बाद का घटनापूर्ण इतिहास भी स्पष्ट सुबोध रूप में पहलेपहल इस ग्रन्थ के लघु संस्करण या इसके तीसरे संस्करण

में ही दिया गया ।

१०. भारतीय इतिहास की राष्ट्रीय विवेचन पद्धति

ऊपर के विवेचन से प्रकट हुआ होगा कि शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से लिखे भारतीय इतिहास का युगविभाजन और घटनाओं का चुनाव तथा उनके संकलन का क्रम अंग्रेजी साँचे के इतिहासों से बहुत भिन्न होना चाहिए। सुनिश्चित और प्रमाणित घटनाओं का उनके आपेक्षिक मूल्य अर्थात् प्रभाव की व्यापकता को देखते हुए सर्वथा सहज स्वाभाविक क्रम से संकलन इस पद्धति की विशेषता होनी चाहिए। अच्छे बुरे किसी पहलू को छिपाया न जाय, प्रत्युत ठीक क्रम और ठीक अनुपात से दिखाया जाय। "आप....संक्षिप्त चित्र देना चाहते हैं तो कैमरे का फोकस दूरी पर रखिए। पर यदि आप रंग छू कर शक्लें मिटाने की कोशिश करते हैं तो यह ईमानदारी नहीं है।...जो घटना कैमरे की मार में आती है उसे रखना ही होगा। यदि हमारे पुरखा कभी गलत रास्ते पर चलते रहे तो...बताना चाहिए कि उनका रास्ता गलत था और ....कि वह क्यों गलत था।"* जिसे हम राष्ट्रीय दृष्टि से भारतीय इतिहास का विवेचन कहते थे, उनकी पद्धति यह थी। चूंकि भारत के अतीत का ठीक ठीक सत्य स्वरूप प्रकट होना हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता थी, इसलिये इस प्रकार की विवेचना पद्धति राष्ट्रीय कहलाती थी। इस ग्रंथ में ठीक इस पद्धति का अनुसरण किया गया है।

इस पद्धति से विद्यार्थियों के दिमाग पर बोझ पड़ने के बजाय उनकी रुचि और चिन्तन-शक्ति जगेगी इसकी पूरी आशा है। इस ग्रंथ के प्रकट होने से पहले नागपुर अभिभाषण को पढ़ कर ही श्री वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा था कि "इस...वैज्ञानिक और सत्य से भरे....कालविभाग का आश्रय लिया जाय तो....छात्रों में अपनी सूझ से देखने की क्षमता उत्पन्न होगी..।"

११. भारतीय इतिहास की चित्र सामग्री

ऐतिहासिक अवशेषों की खोज से जो सामग्री निकली है और आये

---

*पूर्वोक्त शिमला अभिभाषण (१६३८)

दिन निकल रही है, उससे भारतीय जनता के अतीत जीवन पर भरपूर प्रकाश पड़ता है । पर जिन्हें भारतीय इतिहास को सूखी घटना-तालिका रूप में पेश करना था, उन्होंने उस सामग्री के बहुत से पहलुओं को भी नज़र-न्दाज़ किया । भारतीय अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास के मनन में उस चित्र सामग्री के अध्ययन का भी विशिष्ट स्थान है । इस ग्रंथ से उस सामग्री का ठीक स्वरूप और मूल्य प्रकट होगा । भारतीय इतिहास के अनेक दुर्लभ और महत्वपूर्ण चित्र इसमें पहली बार प्रकाशित किये गये हैं। चित्रों के प्रामाणिक होने पर उतना ही ध्यान दिया गया है जितना पाठ्य-वस्तु के ।

१२. शैली और भाषा

छोटे ग्रंथ में विवादों और व्याख्याओं की गुञ्जाइश न थी, न मूल लेखों के प्रतीक देने की, इसलिये भरसक विवादों के भँवरों से बच कर खेने की कोशिश की गई है । पर घटनाओं की चुनाई जिस स्वाभाविक विकास क्रम से की गई है उससे वे स्वयं बोलेंगी, स्वयं अपनी व्याख्या करेंगी, अर्थात् उनका पूर्वापर-समन्वय और कारणकार्य-सम्बन्ध स्वतः स्पष्ट होगा, ऐसी आशा है । मूललेखों के शब्द भरसक उद्धृत किये गये हैं और इस ढंग से कि कहानी में ठीक फब जाय तथा साथ ही उस उस विषय के विज्ञ पहचान लें कि कहां से । नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते— निर्मूल कुछ न लिखा जाय और बिना आवश्यकता के कुछ न कहा जाय, यह आदर्श बराबर सामने रक्खा गया है ।

भाषा को विषय और उक्त पद्धति और शैली के अनुकूल रखने का पूरा जतन किया गया है। मानव हृदय का कोई ऐसा स्थायीभाव नहीं है जो भारतीय जनता के तीन हज़ार बरस के तजरबे को सुन कर जगता न हो। अत्यन्त संक्षेप करते हुए भी उस तजरबे का पूरा चित्र देने का जतन किया गया है ।

१३. उपकारों का स्मरण

स्व० डा० हरीलाल ने "भारतीय दृष्टि से लिखे इतिहास की बड़ी

आवश्यकता की" देश भर के, मेधावियों में फैली जिस "उत्कट अनुभूति" की चर्चा १९३० में की थी, मुझे भी उस अनुभूति ने १९१९–२१ में बेचैन किया था, जिससे उसकी पूर्त्ति के लिये मैंने तभी से तैयारी आरम्भ की। १०२६ में मैंने लिखाई का वह कार्य आरम्भ किया जिससे बारह बरस पीछे इस ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन हुआ, और आज तीस बरस पीछे पांचवां संस्करण निकल रहा है। इस लम्बी अवधि में मुझे अपने गुरु जनों, बुजुर्गों, मित्रों और सहयोगियों से जिस प्रकार पथप्रदर्शन, प्रोत्साहन, परामर्श, सुझाव और सहायता मिलती रही है, उसके अनेक प्रसंगों का पर्यालोचन आज भी अनेक मधुर और करुण स्मृतियों को जगा देता है।

१४. ग्रन्थ का नाम

इस ग्रंथ का नाम पहले 'भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन' अथवा 'इतिहास प्रवेश' रक्खा गया था। इधर चौथे पांचवें संस्करणों में इसमें जो परिवर्धन हो गये हैं उनके बाद वह नाम अनुरूप नहीं रहा। हमारी प्राचीन चित्रकला में किसी चित्र की पहली मुख्य रेखाएँ खींचने की परिभाषा थी—उन्मीलन, क्योंकि उन रेखाओं द्वारा चित्र का स्वरूप खुल जाता है। कालिदास की प्रसिद्ध उक्ति है—उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रम्—मानो तूलिका द्वारा चित्र खोल दिया गया हो। मुग़ल चित्रकला में इसे खुलाई करना कहते थे, जो कि उन्मीलन का ठीक अनुवाद है। सो यह ग्रंथ अब 'भारतीय इतिहास का उन्मीलन' है। और अपने इतिहास के इस उन्मीलन द्वारा भारत-संतान की आँखों का भी उन्मीलन होता रहे।

1539—14-2-58—2,000 copies.—C. P. & S. Pb., Patiala.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.